TEXT CUT WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186280

UNIVERSAL
LIBRARY

भारतीय सहकारिता आन्दोलन

श्री ओम्प्रकाश शर्मा
एम. कॉम, एल. एल. बी.

द्वारा शासन साहित्य परिषद् के लिये प्रकाशित
१९५९

मूल्य दो रुपए

मुद्रक
अमृतलाल परवार
सिंघई प्रिंटिंग प्रेस
मढ़ाताल, जबलपुर

प्रस्तावना

प्रस्तुत प्रकाशन "भारतीय सहकारिता आन्दोलन" अर्थशास्त्र के विद्वान श्री ओम्प्रकाश शर्मा द्वारा सहकारिता जैसे महत्वपूर्ण विषय पर लिखित एक विवेचनात्मक ग्रन्थ है, जिसे मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् ने १९५५ में पुरस्कृत किया था। इस परिषद् की स्थापना सन् १९५४ में तत्कालीन मध्यप्रदेश शासन द्वारा इस उद्देश्य से की गई थी कि प्रदेश की भाषाओं के विकास के लिए उनमे उच्च कोटि के साहित्य के निर्माण को प्रोत्साहित किया जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति के हेतु प्रति वर्ष परिषद् की ओर से निर्दिष्ट विषयों पर उत्कृष्ट मौलिक रचनाओं तथा अनूदित ग्रन्थों के लिए पुरस्कार दिए जाते है, निबन्ध-प्रतियोगिताएं की जाती है तथा विभिन्न विषयों पर श्रेष्ठ विद्वानों की भाषण-मालाएं आयोजित की जाती है।

नवम्बर, १९५६ से उक्त परिषद् दो भागों – महाकोशल शासन साहित्य परिषद् तथा विदर्भ शासन साहित्य परिषद् – में विभक्त हुई और अपने-अपने क्षेत्र में क्रमशः हिन्दी तथा मराठी भाषा के विकास में योगदान देने का दायित्व उन पर आया है। महाकोशल शासन साहित्य परिषद् ने अब समस्त नवीन मध्यप्रदेश को अपना कार्य-क्षेत्र मान्य कर लिया है और वह मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् के रूप में साहित्य की सेवा करने में अग्रसर हो रही है।

राज्य-पुनर्गठन के परिणामस्वरूप इस पुस्तक के प्रकाशन में विलम्ब हो गया है। इसके लिए क्षमा-याचना करते हुए परिषद् का विश्वास है कि भारतीय सहकारिता आन्दोलन के उद्भव, क्रमिक विकास एवं व्यावहारिक पहलुओं पर अधिकारी विद्वान द्वारा सुचिंतित ढंग से लिखित इस ग्रन्थ का सहकारिता मे रुचि रखनेवाले एवं साहित्य-प्रेमी जन स्वागत करेंगे।

मध्यप्रदेश के सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय को शासन साहित्य परिषद् ने जिन पुस्तकों का प्रकाशन-कार्य सौंपा है, "भारतीय सहकारिता आन्दोलन" उन्हीं में से एक है।

एल० सी० गुप्ता
सचिव
मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्

भोपाल
२६ फरवरी १९५९

अनुक्रमणिका

		पृष्ठ
१	सहकारिता — परिभाषा एवं सिद्धान्त	१
२	सहकारिता संगठन के मूलभूत सिद्धान्त	१६
३	सहकारी समितियों का वर्गीकरण	२८
४	सहकारी आन्दोलन का विश्व में विकास	४२
५	भारत में सहकारिता का प्रादुर्भाव एवं विकास	५३
६	सहकारी प्रत्यय समितियां (विदेशों में)	७३
७	भारतवर्ष में सहकारिता प्रत्यय आन्दोलन	९२
८	केन्द्रीय अधिकोष	११२
९	प्रान्तीय अधिकोष	१२५
१०	भू-प्राधि अधिकोष	१४१
११	उपभोक्ता भण्डार	१६३
१२	बहु-प्रयोजन समितियां	१९२
१३	कृषि-क्षेत्र में सहकारिता का प्रयोग	२०९
१४	औद्योगिक क्षेत्र में सहकारिता के प्रयोग	२३३
१५	सहकारिता समिति निर्माण करना और सदस्यता ग्रहण करना	२४६

: १ :

सहकारिता—परिभाषा एवम् सिद्धांत

(Co-operation – Definition and principles)

समाज के प्रत्येक नागरिक के समक्ष आज यह प्रश्न है कि समाज की दशा किस तरह सुधारी जाय। सहकारिता इसका एक सरल हल प्रस्तुत करती है। किन्तु जन-साधारण सहकारिता के वास्तविक अर्थ से आज भी अनभिज्ञ है। उसके समक्ष, समय-समय पर यह प्रश्न उठता है कि सहकारिता वास्तव में क्या है? संसार के प्रत्येक देश में यद्यपि आज सहकारिता के सिद्धांतों को अपनाने की मनोवृत्ति है, किन्तु सामान्य मानव जब तक उसकी वास्तविकता से परिचित न हो जाय, यह आंदोलन आश्चर्यजनक प्रगति नहीं कर सकता। इसलिये, इस बात का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है कि सहकारिता की कोई ऐसी सरल और सुबोध परिभाषा व्यक्त की जाय, जो सामान्य मानव के लिए मार्ग प्रदर्शिका बन सके।

विभिन्न देशों के अर्थशास्त्रियों ने तथा व्यावहारिक राजनीतिज्ञों ने सहकारिता की उपयुक्त परिभाषा देने की कोशिश की है, किन्तु उन अनेकानेक परिभाषाओं के बीच सामान्य व्यक्ति के लिए यह निश्चय करना कठिन है कि वह किस परिभाषा को अपनाये। कुछ प्रमुख लेखकों के विचारों को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है।

१. श्री एच. कल्वर्ट (Mr. H. Calvert), जिन्होंने सहकारिता के ऊपर सुप्रसिद्ध पुस्तक "दि ला एंड प्रिंसिपल्स आफ को-आपरेशन (The Law & Principles of Co-operation) लिखी है, सहकारिता की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त करते हैं:—

"सहकारिता वह संगठन प्रारूप है, जिसमें व्यक्ति स्वेच्छा से मानव के नाते पारस्परिक समानता के आधार पर अपने आर्थिक हितों के संवर्धनार्थ मिलते हैं।"

इस परिभाषा में हम देखते हैं कि सुयोग्य लेखक ने परिभाषा का आधार, उन आधारभूत सिद्धांतों को माना है, जिनके बल पर सहकारिता की भित्ति आज सुदृढ़, स्थिर और अटल खड़ी है। उदाहरणार्थ, 'स्वेच्छा' और 'समता' का आधार तथा 'पारस्परिक हितों' का संवर्धन।

२. इसके अतिरिक्त सर हारेस प्लनकेट (Sir Horace Plunkett) ने सहकारिता की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त की है:—

"सहकारिता उस स्वावलम्बन को कहते हैं, जो संगठन द्वारा प्रभावशाली बना दिया जाता है।"

उपरोक्त लेखक ने संगठन की महत्ता पर अधिक जोर डाला है, जबकि मानवीय पक्ष को कुछ कम प्राथमिकता प्रदान की है। वास्तव में, सहकारिता आंदोलन की एकमात्र विजय, उसके मानवीय पक्ष के कारण है, जो कि दूसरे अन्य संगठन प्रारूपों में उपेक्षित रहता है। इसके अतिरिक्त, सहकारिता विषयक एक अन्य सुयोग्य लेखक, डा० सी. आर. फे (Dr. C.R. Fay), जिनकी विश्वविख्यात पुस्तक "को-आपरेशन एट होम एण्ड एब्राड (Co-operation at Home & Abroad) है, सहकारिता की परिभाषा न देकर, उसके संगठन प्रारूप (Form of Co-operative

Organisation) अर्थात् सहकारी समिति की परिभाषा इस प्रकार देते हैं :—

"सहकारिता समिति वह परिषद है, जो कि संयुक्त व्यवसाय के लिए, शक्ति-विहीन (कमजोर) व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित की जाती है और जिसके संचालन में सदैव इस आधार पर, स्वार्थ-विहीन भावनाओं का समावेश हो जाता है, कि वे सब व्यक्ति, जो इसकी सदस्यता उपलब्ध करते हैं, इसके लाभ-बंटन में उस आनुपातिक मात्रा में भाग पायेंगे, जितना कि वे अपने परिषद् का उपयोग करते हैं।"

डा० फे के कथनानुसार, इसलिए, सहकारिता एक व्यावसायिक संगठन प्रारूप है, जो कि शक्ति-विहीनों के लिए अधिक श्रेयस्कर है और जिसमें लाभ की भावना, संगठन के उपयोग के आधार पर सापेक्षित रहती है।

श्री माइरन टी. हैरिक (Mr. M.T. Herrick) ने अपनी "रूरल क्रेडिट" (Rural Credit) में सहकारिता की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त की है :—

"व्यक्तियों के उस स्वेच्छित, संयुक्त कार्य को सहकारिता कहते हैं, जिसमें अपनी शक्ति और साधन, अथवा दोनों, स्वतः संचालित संस्थाओं में, पारस्परिक लाभालाभ के लिए उपयोग में लाते हैं।"

हैरिक ने *पारस्परिक-शक्ति* और *साधन* तथा *स्वावलम्बन* पर अधिक ध्यान दिया है। साथ ही सहकारिता समितियों की *स्वेच्छित प्रकृति* (Voluntary character) पर भी अधिक जोर डाला है।

मैसर्स एच. एच. बैकन व एम. ए. शार्स (M/s H.H. Bakken & M.A. Schars) ने सहकारिता की परिभाषा इस प्रकार से अभिव्यक्त की है :—

"सहकारिता एक प्रभावशाली अर्थ-पद्धति है। इस अर्थ-व्यवस्था के अंतर्गत, यथेच्छकारी-अर्थ-व्यवस्था (laissez-faire) और संयोजित अर्थ-व्यवस्थाओं को जन्मजात दोषों से मुक्त करने के उपरान्त, हमें सहकारिता की नवीन पद्धति प्राप्त होती है। सहकारिता प्रजातंत्र के आधार को विस्तृत बना देती है, क्योंकि यह उन सब मानवों के आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में हितवर्धन के लिये प्रयास करती है, जिनमें मानवीय गतिविधियों को पारस्परिक आधार पर, बुद्धिमत्ता के साथ नियंत्रित और संचालित करने की क्षमता होती है।"

सहकारिता पर कुछ भारतीय लेखकों ने भी मौलिक विचार व्यक्त किए हैं। जिनमें से 'को-आपरेशन इन इंडिया एण्ड एब्राड' (Co-operation in India & Abroad) के सुयोग्य लेखक श्री तलमकाई (Shri Talmakai) ने सहकारिता की परिभाषा निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त की है :—

"सहकारिता वह संगठन है, जिसमें व्यक्ति स्वेच्छा से, समता के आधार पर, सम्मिलित होते हैं और अपनी आर्थिक-दशा, उचित साधनों से सुधारते हैं।"

इस योग्य लेखक ने उपरोक्त परिभाषा में विस्तृत दृष्टिकोण अभिव्यक्त किया है। इसलिए, यह तर्क की कसौटी पर असंगत प्रतीत होने लगती है।

भारतीय दृष्टिकोण का उत्तम दिग्दर्शन, केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त "को-आपरेटिव प्लानिंग कमेटी" ने किया

है, जिसका वृत्त-लेख (रिपोर्ट) सन १९४६ में प्रकाशित हो चुका है। इस प्लानिंग कमेटी के अनुसार :—"सहकारिता वह संगठन प्रारूप है, जिसमें विभिन्न व्यक्ति, स्वेच्छा से, समता के आधार पर, अपने आर्थिक उद्देश्यों की अभिवृद्धि करने के ध्येय से सदस्यता ग्रहण करते हैं।"

इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि जो व्यक्ति सहकारिता के क्षेत्र में पदार्पण करते हैं, उन्हें स्वेच्छा से इस ओर प्रवृत्त होना चाहिए, किन्तु प्रत्येक मानव इतना ज्ञानवान नहीं होता कि वह भलीभांति समझ सके कि कौन मार्ग उसके लिए श्रेयस्कर होगा। उसे इस योग्य बनाने के लिए उपयुक्त शिक्षण और सद्परामर्श मिलना चाहिए। आज के प्रजातांत्रिक युग में, जहां राजनैतिक क्षेत्र में प्रतिनिधित्व पद्धति प्रयोग में लाई जाती है, वहां आर्थिक क्षेत्र में भी मानव को अपने आर्थिक हितों के प्रति जागरूक बनाने के लिए प्रत्येक प्रजातांत्रिक सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह जन-साधारण को सद्परामर्श प्रदान करे, और उसे अपने आर्थिक हित और अहित समझने के योग्य बनाये। इस दिशा में जो कुछ प्रयास, किसी भी सरकार द्वारा किए जा रहे हैं, वे वास्तव में सराहनीय हैं, यदि वे केवल उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति करते हैं।

इसका तात्पर्य पाठक यह न समझ बैठें कि मैं राज्य सरकारों द्वारा सहकारिता के क्षेत्र में अनुचित हस्तक्षेप करने का समर्थन कर रहा हूँ। मैं वास्तव में उसका बिलकुल विरोधी हूं। किन्तु, जन-साधारण को जहां तक उसके आर्थिक हित और अहितों के प्रति जागरूक बनाने का, कोई भी राजकीय अभिकर्त्तृत्व कार्यभार वहन करता है, तो मैं उसे कदापि उस समय तक उपेक्षित दृष्टि से देखने के लिए तत्पर नहीं, जब तक कि उस संस्था की सेवायें उन उच्च

आदर्श भावनाओं से प्रेरित होती हों, जो कि ऊपर उल्लिखित की गई हैं।

सिद्धांत

सहकारिता की परिभाषायें अभिव्यक्त करते समय कुछ लेखकों ने, वास्तव में, सहकारिता के सिद्धांतों का स्पष्ट समावेश परिभाषाओं में कर दिया है। इसलिए उन लेखकों की परिभाषाओं को तनिक ध्यान से देखें, तो हम सहकारिता के सिद्धांतों को उनमें से बड़ी सरलता के साथ निकाल सकते हैं। उदाहरण के लिए, डा० सी. आर. फे. द्वारा दी हुई परिभाषा पर ध्यान दीजिए। उसमें स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो जाता है कि सहकारिता शक्ति-विहीनों का साधन है, और यह साधन, वे संयुक्त होकर आर्थिक और व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए प्रयोग में ला सकते हैं। इसके संचालन में उन सब व्यक्तियों को सदैव स्वार्थ-विहीन रहना पड़ता है। लाभ आदि के बंटन में भी, उस समिति का जितना उपयोग उठाते हैं उसके आधार पर विभाजन किया जाता है। इसी प्रकार के सिद्धांत विषयक विचार और भी दूसरे लेखकों की परिभाषा में समाविष्ट हैं। हम यहां नीचे उन सब सिद्धांतों को क्रमानुसार व्यक्त कर रहे हैं।

१. *आत्म-बल एवं विश्वास :* सहकारिता की आधार इकाई (basic unit) मानव के आत्म-बल व विश्वास पर अवलंबित है। प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह बिलकुल साधन-विहीन क्यों न हो, यदि उसमें मानवीय भावनाओं का लेशमात्र भी अंकुर है, तो वह अपने आत्म-बल में अवश्य विश्वास रखता होगा। सहकारिता ने सामान्य मानव के सम्मुख इसी आत्म-बल को जाग्रत करने का उत्तम लक्ष्य रखा है। इसी विचार को हम दूसरे शब्दों

में, इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं कि आर्थिक स्वतंत्रता की भूमि में, व्यक्ति के स्वातंत्र्य रूपी बीज को रोपण करते हुए, आत्म-बल रूपी फल की अभिलाषा इच्छित की जाती है।

२. *सदस्यता स्वातंत्र्य :* सामान्यतया सभी व्यक्तियों को सहकारिता के क्षेत्र में समान अधिकार हैं, इसके लिए न किसी व्यक्ति को बाध्य किया जाता है और न ही किसी व्यक्ति के मार्ग को अवरुद्ध किया जाता है। अपनी स्वेच्छा से सहकारिता समिति में सम्मिलित होना और इच्छानुसार सदस्यता त्याग कर देना, सहकारिता के परमोत्तम गुण हैं। कुछ लोगों की यह भ्रमात्मक धारणा बन गई है कि धनवान व्यक्तियों को सहकारिता क्षेत्र में पदार्पण करने का स्वातंत्र्य नहीं है। यह बिलकुल गलत है; उन्हें सदस्यता प्राप्त करने का पूर्ण स्वातंत्र्य है, किन्तु इन समितियों में, क्योंकि उनके स्वार्थों की पूर्ति नहीं हो पाती, इसलिए बहुधा वे इनकी सदस्यता ग्रहण नहीं करते।

३. *समता :* सहकारिता का तीसरा सिद्धांत समता है। प्रत्येक सदस्य चाहे अमीर हो अथवा गरीब, चाहे अधिक शिक्षित हो या अल्प शिक्षित, सहकारी समिति की सदस्यता पाने के बाद समिति की प्रत्येक समस्या पर 'एक मत' के आधार पर मतदान का अधिकारी होता है। इस प्रकार समता का उपरोक्त सिद्धांत कार्यरूप में परिणत होता है। समिति की पूंजी में, प्रदत्त पूंजी मात्रा अथवा ग्रहण अंश मात्रा, मतदान का आधार नहीं बनती। प्रत्येक व्यक्ति को समान रूप से एक मत या वोट का अधिकार रहता है।

४. *स्वार्थी प्रवृत्ति का परित्याग :* सहकारिता के सिद्धांत, व्यक्ति को व्यक्तिगत स्वार्थपरायण भावनाओं के परित्याग के

लिए प्रेरित करते हैं और सामुदायिक भावनाओं (community feelings) को जाग्रत करते हैं। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि सब सदस्य प्रत्येक के लिए और प्रत्येक सदस्य सबके लिए, अपने व्यक्तिगत साधन अर्पित कर देते हैं। इस प्रकार सहकारी संगठनों के सदस्यों के दृष्टिकोण में सामाजिक कल्याण और देश का सर्वांगीण विकास रहता है; जबकि दूसरे व्यावसायिक संगठनों में व्यक्तिगत लाभ, अन्य सब लक्ष्यों से सर्वोपरि रखा जाता है।

५. *प्रजातांत्रिक व्यवस्था*: सहकारिता के सिद्धांत, आज के व्यावसायिक जगत के प्रत्येक क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से सफलतापूर्वक प्रयोग किए जा रहे हैं। उनमें आधुनिक युग की प्रजातांत्रिक व्यवस्था (democratic setup) के सभी गुण सन्निहित हैं। आर्थिक जगत में इस संगठन प्रारूप ने लाभ प्राप्ति की लोलुपता को इस सुगम विधि से सुलझाया है कि राजनैतिक क्षेत्र के धुरंधर खिलाड़ियों को भी इससे यह शिक्षा लेनी पड़ेगी कि वे किस प्रकार पदलोलुपता से मुक्त रह सकते हैं।

६. *स्वावलंबन*: सहकारिता में 'स्वावलंबन' एक अन्य उत्तम सिद्धांत है, जिसके बल पर सहकारिता की भित्ति सदैव दृढ़ता के साथ निर्भर रह सकती है। जहां तक संभव होता है, सहकारी समिति के सदस्य अपनी निज की योग्यता और क्षमता पर ही अवलंबित रहते हैं; स्वयं बल का अधिक से अधिक लाभ उठाने की कोशिश करते हैं। बाह्य सहायता, यदि कहीं से मिल सके, तो वह तिरस्कृत नहीं की जाती अथवा अस्पृह भी नहीं समझी जाती; किन्तु उसके लिए समिति अपने नियमित कार्यक्रम को स्थगित नहीं किया करती। हमारे देश में, जैसी कि एक पुरानी कहावत है कि 'बहती गंगा में हाथ धोकर पुण्य कमा लेना',

स्वयं हाथ धोने वाले ही के लिए अधिक लाभप्रद सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार, सहकारी समिति को, जो कोई व्यक्ति, उसके कार्य में योग देता है वह स्वयं भी प्रशंसनीय हो जाता है।

७. *मानवीय महत्व*: मानवीय महत्व सहकारिता के सिद्धांतों में एक अपूर्व देन है। आज हम देखते हैं कि इस वर्तमान अर्थ और पदलोलुप जगत में अर्थ-सम्पन्न व्यक्तियों ने ऐसा गढ़ पैदा कर लिया है कि उसमें पूंजी का विशेष महत्व हो गया है। मानव, जिसके सदुपयोगार्थ (उपादेयता प्रदान करने के लिए) इसका निर्माण किया गया था, उसी समाज में महत्व-विहीन समझा जाने लगा है। किन्तु, सहकारिता ने मानव के महत्व को पुनः पूंजी से अधिक प्राथमिकता देने की ओर प्रयास प्रारम्भ किया है। निश्चय ही यह बहुत उत्तम लक्ष्य है, जिसके आंशिक हल हो जाने पर भी कम से कम मानव की वर्तमान अवस्था बहुत कुछ सुधर सकती है।

कार्यक्षेत्र

सहकारिता का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। शायद ही कोई ऐसा आर्थिक जगत का पक्ष होगा, जिसमें सहकारिता ने पदार्पण न किया हो। गृहस्थी और सामाजिक क्षेत्रों में, जो सहकारिता का कार्यरत प्रारूप हम देखते हैं, उसे सहयोग कहते हैं। व्यावसायिक जगत के विभिन्न पहलुओं में कार्यरत, उन्हीं सिद्धांतों को हम "सहकारिता" कहते हैं। इसलिए, हमारे अध्ययन का विषय "सहकारिता" सहयोग का वह पक्ष है, जो कि व्यावसायिक जगत के पहलू में दृष्टिगोचर होता है।

सहकारिता को, इसलिए, व्यावसायिक जगत का एक सफल संगठन प्रारूप कहा जाये तो अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि क्या

कृषि, क्या वाणिज्य, क्या उद्योग—कोई भी तो पहलू व्यावसायिक जगत का ऐसा नहीं है, जहां इस संगठन प्रारूप ने सफलता प्राप्त न की हो। जहाँ कृषि, आधुनिक अनुसंधानों के द्वारा वृहत स्तर पर की जाने लगी है, उसमें भी कृषि श्रमिकों के शोषक और लाभ प्राप्ति के लोलुप पूंजीपतियों को प्रतिस्थापित करने के लिए सहकारिता के सिद्धांतों का समावेश उतनी ही तेज़ी से किया जाने लगा है जितना कि औद्योगिक जगत में।

औद्योगिक क्रांति लगभग १७६० से प्रारम्भ हुई और एक के बाद अनेक अनुसंधान, क्रमानुसार ऐसी तेज़ी से हुए कि वस्तु-निर्माण का आधार कुछ काल में ही बदल गया। वृहत स्तर पर बड़े-बड़े बहुमूल्य यंत्रों की सहायता से वस्तु-निर्माण करना सभी देशों में सामान्य प्रथा हो चली, इससे पूंजीपतियों का मान बढ़ा। उन्होंने अपने इस गौरवान्वित पद का दुरुपयोग शुरू किया। उद्योगों में जो लाभ उपार्जित होता था, उसका बहुत बड़ा हिस्सा पूंजीपतियों ने हड़पना शुरू किया। श्रमिक वर्ग शोषित हुआ। इस शोषण का फल यह हुआ कि १९ वीं शताब्दी के मध्यकाल में उनमें कुछ जागृति आई। उन्होंने पारम्परिक सहयोग द्वारा श्रम संघ (trade unions) निर्माण किए, जो पूंजीपतियों से कुछ हद तक मोर्चा लेने में सफल हुए। इस सफलता का श्रेय सहकारिता आंदोलन को ही जाता है, क्योंकि श्रमिकों ने इस आंदोलन के सिद्धांतों का अनुसरण करके पूंजीपतियों के बहुत से उद्योग व्यवसायों को अपने आप संचालित करना प्रारम्भ कर दिया। इसी प्रकार व्यावसायिक जगत में जो मध्यग्, विशेषकर बहुशोविक्रेता व कमीशन एजेंट आदि, दैनिक उपभोग की अनेकानेक वस्तुओं को अपने वर्तन भार के द्वारा महंगी बनाये हुए थे, उनको भी सहकारी भंडारों द्वारा प्रतिस्थापित

किया गया। कृषि क्षेत्र में भी, जो मालगुजारी व साहूकारी प्रथायें सामान्य कृषि श्रमिक को परेशान किये थीं, उनका भी हल सहकारिता के सिद्धांतों द्वारा सुगमता के साथ प्रगतिशील देशों में किया जा चुका है और कुछ अर्ध-विकसित देश इस दिशा में प्रयत्नशील हैं।

इस आंदोलन की एक शताब्दी की विश्वव्यापी अपूर्व व आश्चर्यजनक सफलता को देखकर, इसके कार्यक्षेत्र को और भी अधिक प्रसारित करने की प्रवृत्ति आधुनिक लेखकों में दृष्टिगोचर हो रही है। डा० सी. आर. फे ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक "को-आपरेशन एट होम एण्ड एब्राड" में यहां तक कह डालने का साहस किया है कि "सहकारिता एक व्यावसायिक संगठन-प्रारूप ही नहीं है, बल्कि इससे भी कुछ अधिक है। उसके मानवीय और सामाजिक पक्ष भी हैं।" इस आंदोलन के गत इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि सभी देशों में यह आंदोलन सामाजिक प्रजातंत्र का उद्बोधक सिद्ध हुआ है और इसके सिद्धांत उदार रहे हैं, इसलिए व्यक्तिगत स्वातंत्र्य और अंतर्राष्ट्रीय शांति जैसे जटिल प्रश्नों पर (जो कि, यद्यपि स्वभावतः राजनैतिक पहलू हैं) भी इस आंदोलन को अधिकृत रूप से बहुत कुछ कहने को है। आज का मानव दूसरे अन्य मानव के सहयोग के बिना एक दिन भी काम नहीं चला सकता। कदम-कदम पर व्यक्तिगत, पारिवारिक, व्यावसायिक और व्यावहारिक जीवन में उसे सहयोग चाहिए। समाज का जो वर्तमान रूप आज हमारे समक्ष है, वह भी कदापि सम्भव नहीं था, यदि सहयोग की भावनाओं का सदुपयोग मानव ने नहीं उठाया होता। विभिन्न सभ्यताओं के उदय और विकास का क्रमिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य जीवन, नागरिकता और समाज,

अपना-अपना वर्तमान स्वरूप केवल सहयोग के आधार पर बनाये हुए हैं। इसके अतिरिक्त, व्यावसायिक, औद्योगिक और आर्थिक जगत में भी सफलता का श्रेय सहकारिता (सहयोग) ही को है। आज का मानव अपनी साधारण से साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य मानवों द्वारा उत्पादित वस्तुओं के ऊपर इतना अधिक निर्भर हो चला है कि उसका जीवन इस प्रकार के पारस्परिक सहयोग के अभाव में एक दिन भी संभव नहीं। सहकारिता ही के कारण आज विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में विशिष्टीकरण और कार्य-विभाजन संभव हो सका है। इससे प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी अभिरुचि और कार्यशक्ति के अनुसार कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है।

कृषि क्षेत्र में भी सहयोग उतना ही अनिवार्य है जितना कि औद्योगिक और व्यावसायिक जगत में। अनाज उत्पन्न करने तथा उसे विक्रय हेतु शहरों तक ले जाने के लिए उसी तरह सहयोग की जरूरत है, जैसे कि अन्य आर्थिक व व्यावसायिक क्षेत्रों में। इस प्रकार हम देखते हैं कि आज हमारा जीवन एक दूसरे के सहयोग पर इतना अधिक निर्भर है कि यदि सहकारिता के सिद्धांतों को त्याग दिया जाये, तो पता नहीं संसार की गति अवरुद्ध हो जाये। *इसलिये मानव की शक्ति सहकारिता में निहित है और सहकारिता ही मानव की उन्नति का मूल मंत्र है। सहकारिता का समागम मानवीय जीवन के प्रत्येक पहलू में इतनी गहरी पहुंच कर चुका है कि उसके बिना आज का मानव कुछ घंटे भी जीवनयापन नहीं कर सकता।*

सहकारिता के विकास पर प्रतिबन्ध

इसके पूर्व देख चुके हैं कि सहकारिता का कार्यक्षेत्र विश्व-व्यापी है और मानव जीवन के कौटुम्बिक, जातिगत, सामाजिक,

आर्थिक, व्यावसायिक और औद्योगिक पक्षों पर इस प्रकार से आच्छादित है कि मानव सहकारिता के बिना कुछ घंटे भी अपना जीवनयापन नहीं कर सकता; किन्तु, फिर भी कुछ ऐसी परिमिततायें या प्रतिबंध (limitations) हैं, जिनके कारण इस आन्दोलन का विकास अभिलक्षित नहीं हो सकता। इन परिमितताओं का उल्लेख संक्षेप में यहां किया जा रहा है।

१. *शिक्षा संबंधी प्रतिबंधः* संसार का प्रत्येक मानव आज शिक्षित नहीं है। सहकारिता के सिद्धांत उसी व्यक्ति की समझ में सरलतापूर्वक आते हैं, जिसे कम से कम इतना ज्ञान अवश्य हो कि वह अपने अधिकारों और दायित्वों को समझ सके। अशिक्षित मानव कुछ ऐसी भ्रमात्मक धारणायें बना बैठता है, जिनका उन्मूलन, तब तक कदापि संभव नहीं है, जब तक कि उसका मानसिक विकास न हो। सहकारिता को सभी बीमारियों की एकमात्र अचूक दवा समझ बैठना बिलकुल ग़लत है। सहकारियों को इतनी शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिये कि वे सहकारिता आंदोलन को उचित अर्थों में समझ सकें और उसके विकास में, यदि सहायक सिद्ध न हो सकें, तो कम से कम बाधक सिद्ध न हों।

२. *मानव की जन्मजात अप्रवृत्तिः* मनुष्य में स्वभाव से इस प्रकार के अंकुर पाये जाते हैं, कि वह किसी अन्य व्यक्ति द्वारा मार्ग-निर्देशन स्वीकार नहीं कर सकता। अशिक्षित व्यक्ति तो और भी अधिक इस दिशा में अप्रवृत्तिगत पाये जाते हैं। उन्हें सुधारने के लिये वर्षों प्रचार करने की जरूरत पड़ती है। उनकी इस प्रवृत्ति के कारण सहकारिता के प्रसार में काफी अड़चन पड़ती है।

३. *साम्प्रदायिकता व जातिगत दृष्टिकोण :* बहुत से व्यक्तियों का दृष्टिकोण इतना संकुचित होता है कि वे साम्प्रदायिकता और

जातीयता के संकीर्ण घेरे के बाहर कोई भी विकास संबंधी योजना सहर्ष स्वीकार नहीं कर सकते। उनके इस जन्मजात दृष्टिकोण संबंधी विकार को दूर करना बिलकुल असंभव है। बहुधा, उनका यह दृष्टिकोण सहकारिता के राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय, सभ्य और सामाजिक उच्च आदर्शों के साथ मुठभेड़ कर बैठता है जिसमें दोनों ही पक्षों को हानि होती है। कितना ही प्रयास किया जाय, उनके मस्तिष्क में बैठाना कठिन हो जाता है कि सहकारिता के सिद्धांतों से सभी को आर्थिक लाभ होता है, वे चाहे किसी जाति, वर्ग या किसी सम्प्रदाय के व्यक्ति क्यों न हों।

४. सहकारिता के द्वारा बहुत से *मध्यगों* (middlemen) का विलोपन करने का प्रयास किया जाता है, लेकिन फिर कुछ ऐसे प्रभावशाली मध्यग समाज में पैदा हो रहे हैं, जो विलोप नहीं हो पाते। वे अपने स्वार्थों के हेतु सहकारिता को दोषी ठहराने का प्रयास करते हैं।

५. सहकारिता के क्षेत्र में बहुधा साधन-विहीन व्यक्ति संघर्ष करते हुए पाये जाते हैं; इसलिये उनके द्वारा आयोजित विभिन्न सहकारी समितियों को *अर्थाभाव का शिकार* बनना पड़ता है। समाज का समृद्धिशाली वर्ग, जिसके पास पर्याप्त पूंजी है, अनेकानेक कारणों से सहकारी समितियों के प्रति कोई विशेष स्नेह नहीं रखता। इस कारण *अर्थाभाव* की दशा में कुछ क्षेत्रों में सहकारिता को दुर्दिन देखने पड़ते हैं। आज के इस कल-युग (Machine Age) में, जबकि आधुनिकतम यंत्रों की सहायता से वस्तुएं बृहत्-स्तर पर उत्पादित की जाती हैं, प्रत्येक कार्य के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि पर्याप्त पूंजी हो। पूंजी समाज के उस वर्ग के पास है जो बहुधा सहकारिता के प्रति उदासीन रहा है। पूंजीपति वर्ग के उदासीन रहने

के लिये कुछ ऐसे कारण आज तक रहे हैं, जिनका निराकरण करने का यदि प्रयास भी किया जाय तो सफल होने में शंका है।

सारांश : सहकारिता के सिद्धांतों के सुयोग्य लेखक श्री जी. जे. होलिओक (G.J. Holyoake) ने सहकारिता के लक्षणों का संक्षेप में इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है :—

सहकारिता सिखाती है कि किसी व्यक्ति के भाग्य का निर्णयन किसी से लूट-खसोट और न समाज में किसी प्रकार की हलचल पैदा करने और न किसी राजनीतिज्ञ को कोई मुसीबत में डालने से होता है। यह किसी के साथ न कोई गुह्य सम्मेलन करती है और न किसी व्यापारिक संघ के संरक्षण की जरूरत समझती है। यह कोई विप्लव भी खड़ा नहीं करती, यह किसी को कोई आदेश भी नहीं देती और न किसी उच्च पद को द्वेषभाव से देखती है। यह किसी की भेंट भी स्वीकार नहीं करती और न किसी के साथ पक्षपात करती है। आलसियों से इसका संबंध नहीं और कर्मठों के साथ कभी विश्वासघात नहीं करती।

G J Holyoake, the famous writer on co-operation, describes the attributes as under :—

"Co-operation teaches : man's fortune seeks no plunder; causes no disturbance in society; gives no trouble to statesmen; it enters into no secret association; it needs no trade unions to protect its interest; it contemplates no violence; it subverts no order; it envies no dignity; it accepts no gift nor asks any favour; it keeps no terms with the idle and it will break no faith with the industrious."

: २ :

सहकारिता संगठन के मूलभूत सिद्धान्त
(Fundamental Principles of Co-operative Organisation)

जब समाज में पूंजीवादी शक्तियों को पोषण करनेवाले संगठन संस्थाओं से जन-समाज का विशेष कल्याण होता दृष्टि-गोचर न हुआ, तब सहयोगी संस्थाओं का आविर्भाव हुआ। यह संगठन प्रारूप दलितों का प्राण है। हमारे देश की गरीबी, भुखमरी आदि को दूर करने के लिये और अन्य कोई संगटन प्रारूप इतनी उज्ज्वल आभा लिये हुए नहीं दिखाई देता, जितनी आशाएं सह-कारिता संगठन प्रारूप से हैं। भारत की कृषि-सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन करने के लिये, जो राजकीय आयोग (Royal Commission on Agriculture) नियुक्त किया गया था, उसने सहकारिता के विषय में यहां तक कह डाला है कि यदि भारत में सहकारिता असफल होती है, तो भारतीय कृषि की सभी आशाएं असफल समझ लेनी चाहिये। एक अन्य विद्वान लेखक डा० कैलासनाथ काटजू, (आजकल मध्यप्रदेश के मुख्य मंत्री) ने सन् १९४७ में, जबकि वे संयुक्तप्रान्त में न्याय और सहकारिता आदि विभागों के मंत्री थे, सहकारिता का महत्व प्रगट करते हुए यहां तक कह डाला है कि जीवन रूपी नौका को डूबने से बचाने वाली शक्ति "सहयोग" (co-operation) ही है। उनके कथन की सत्यता दिन-प्रतिदिन स्पष्ट होती चली जा रही है, ज्यों-ज्यों सहयोग के प्रनियमों को वास्तविक व व्यावहारिक जीवन की

अनेकानेक आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिये प्रयोग में लाया जा रहा है।

उसका साम्राज्य कृषि, उद्योग, व्यवसाय व वाणिज्य आदि सभी क्षेत्रों में है। समय और परिस्थितियों के अनुकूल उसका प्रसार धीरे-धीरे अनेकानेक क्षेत्रों में बढ़ता चला जा रहा है। युद्धकाल के उपरान्त हमारी युद्ध की खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक हो गया था कि हम "सहकारिता" का योग विभिन्न दैनिक आवश्यकताओं के सम्पन्न करने के लिये प्राप्त करें। हमारे दैनिक उपभोग की सभी सामग्रियां इतनी अल्प मात्रा में उन दिनों प्राप्य थीं कि देश की असंख्य गरीब जनता को वे अप्राप्य थीं। धनवान उन्हें कभी भी प्राप्त न होने देते, इसलिये समान वितरण के लिये उपभोक्ता समितियां खोली गईं।

देश के विभाजन के समय का एक दूसरा उदाहरण ले लीजिये, जबकि लाखों निराश्रित व्यक्ति अपने पूर्वजों के मकानों, दूकानों और अन्य सम्पत्तियों को छोड़कर भारत आने के लिये विवश कर दिये गये थे। उन्हें पुनः आश्रय देने, संस्थापित करने, आदि कार्यों के लिये भी भवन-निर्माण सहकारिता समितियाँ, शरणार्थियों को आर्थिक सहायता करनेवाली समितियां तथा कामगार समितियां और अनेक प्रकार की सहकारी समितियां संस्थापित की गईं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में दुःखी, गरीब व सामान्य व्यक्ति का यदि कोई दुःख-दर्द दूर करने का साधन है, तो वह है—"*सहकारिता*"।

यह ऐसा संगठन प्रारूप है, जिसमें व्यक्ति स्वेच्छा से सम्मिलित होकर समानता के आधार पर अपने आर्थिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये कार्य करते हैं। सहकारी समितियों में जो

अधिक व्यक्ति सम्मिलित होते हैं, उनका समान आर्थिक लक्ष्य होता है। उस आर्थिक लक्ष्य को वे अकेले व्यक्तिगत रूप से प्राप्त नहीं कर पाते, इसलिये अपने ही समान सामाजिक स्थिति वाले अन्य भाईयों के साथ मिलकर, संयुक्त सामर्थ्य से, अपने हितों की रक्षा कर पाते हैं। सामान्य मानव में व्यक्तिगत रूप से अनेक कमजोरियां होती हैं तथा उसकी निजी आर्थिक, मानसिक व शारीरिक स्थिति व ज्ञान भी सीमित होता है। किन्तु जब समान लक्ष्यवाले अनेक व्यक्ति स्वेच्छा से, छोटे-बड़े का भेदभाव त्याग कर, परिश्रम से कार्यरत हो जाते हैं, तो सफलता उन्हें बड़ी आसानी से प्राप्त हो जाती है। मानवीय व्यक्तिगत कमजोरियां व अभाव संग्रहीत (pooled) सामर्थ्य के समक्ष आपसे आप दब जाते हैं। आत्म-सहाय्य रूपी ईंटों के द्वारा नैतिक एकता की आधारशिला पर उनका सहकारिता संगठन रूपी मकान दिनों-दिन मुदृढ़ होता चला जाता है और उसकी छत्रछाया में वे, जो कभी निराश्रित, निस्सहाय समझे जाते थे, सुख से जीवन व्यतीत करने लगते हैं। श्री आई. डी. लिकन, प्रधान, संयुक्त राष्ट्र सहकारी लीग, के शब्दों में यदि यह कहें कि *"सहकारिता दर्शन* (co-operative philosophy) *वह भाषा है, जिसकी दुनियां को आज आवश्यकता है"*, तो अतिशयोक्ति न होगी।

आधार-तत्व

स्वावलम्बन : सहकारिता प्रत्येक व्यक्ति के साथ मिलकर चलना सिखलाती है। अकेला व्यक्ति जिन उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर पाता उनकी पूर्ति मानव आपस में मिलकर बड़ी आसानी से कर लेते हैं। कोई भी काम, चाहे कितना भी कठिन क्यों न हो, सामूहिक प्रयासों द्वारा बड़ी सुगमता के साथ पूरा कर

लिया जा सकता है। इस प्रकार के सामूहिक प्रयासों का प्रभाव न केवल कार्य अवधि पर ही पड़ता है, बल्कि उस कार्य के उत्तम प्रकार से सम्पन्न करने पर भी पड़ता है। वे सामूहिक प्रयास सहकारिता के सिद्धांतों के आधार पर संगठित किये जाते हैं, जिनमें कोई व्यक्ति किसी दूसरे सदस्य का किसी प्रकार शोषण नहीं करता। प्रत्येक सदस्य की यह भावना रहती है कि वह सदस्यों के हित के लिये योग देगा और सम्पूर्ण सदस्यों के योगदान का यह आशय रहता है कि वह प्रत्येक सदस्य के हित हेतु होगा। यह विचारशील भावना सभ्य मानव ने बड़े अनुभव के उपरान्त अपनाई है जबकि उसने स्वार्थ-परायणता के कटु अनुभव काफी उठा लिये हैं; ऐसी परिस्थिति में से गुजरने के उपरान्त ही उसे व्यक्तिगत और सामाजिक हित के बीच साधन ढूंढ़ निकालने की प्रेरणा मिली है। सहकारिता उसे वह क्षेत्र उपलब्ध कर देती है, जहां वह अपने व्यक्तिगत अल्प साधन तथा अल्पशक्ति को इस प्रकार संकेन्द्रित कर पाता है कि जिसके द्वारा वह सामाजिक कल्याण में योग दे सके। इस सामाजिक कल्याण में से जो अंश उसके हिस्से में आता है वह निश्चित रूप से पर्याप्त होता है, क्योंकि इसी प्रकार की भावना से कार्य करनेवाले और अन्य सामाजिक प्राणी भी उस समाज में मौजूद हैं। इस प्रकार के सहकारी संगठनों को अपने सदस्यों के स्वयं बल में पूर्ण विश्वास होता है।

प्रजातांत्रिक : सहकारिता संगठन प्रारूप प्रजातांत्रिक आधारों पर अवलंबित रहता है। सामान्य व्यक्तियों का समुदाय होने के कारण इसका प्रजातांत्रिक होना स्वभावतः निश्चित ही है, किन्तु इसका लक्ष्य भी उन्हीं व्यक्तियों का आर्थिक हित होता है, इसलिये प्रजातांत्रिक होने में और भी अधिक निश्चितता पाई जाती है। सहकारिता समिति के सभी सदस्य समान समझे जाते

हैं, उनमें किसी प्रकार का भेदभाव जाति, रंग व वर्ग भेद के आधार पर नहीं किया जाता। यदि किसी समिति में इस प्रकार की भूल पाई जाती है, तो निश्चय ही वह समिति अल्पकालीन रहेगी और उसे दुर्दिन देखने होंगे, जबकि उसका कार्य समाप्त हो जावेगा। सहकारिता समितियों के विभेद के यदि कोई आधार माने जा सकते हैं, तो वे केवल प्रादेशिक और कार्यक्षेत्र दो ही हो सकते हैं। सहकारिता सदैव स्वेच्छित संगठन रहा है और सदस्यगण स्वेच्छा से सदस्यता ग्रहण करते हैं। उन पर किसी प्रकार का कोई दबाव किसी दशा में नहीं पड़ता। अविकसित व अर्धविकसित देशों में, कभी-कभी राज्य सरकारों को जन साधारण को जाग्रत करने के लिये कुछ इस प्रकार के कदम उठाने पड़ते हैं, जिन्हें कुछ लोग राजकीय हस्तक्षेप मानकर विरोध करते पाये गये हैं। इस प्रकार के विरोध का चाहे जो भी कारण रहे, प्रत्येक दशा में उसकी वास्तविक स्थिति से अवगत होने पर ही कोई निर्णय दिया जाना चाहिये। कुछ परिस्थितियां ऐसी भी होती हैं, जबकि जन-सामान्य को उसके अधिकारों के प्रति जागरूक बनाने के लिये कुछ मार्ग-निर्देशन और आवश्यकीय प्रचार करना ही पड़ता है। यदि इस प्रकार का प्रचार अल्पकाल के लिये कुछ ऐसे योग्य व्यक्तियों द्वारा किया जाय, जो अपने संकुचित क्षेत्र को भलीभांति समझते हों, तो उससे सहकारिता के उस देश में प्रजातांत्रिक होने में कोई बाधा नहीं पड़ती।

मानवीय दृष्टिकोण (Human Approach) : सहकारिता ऐसा व्यावसायिक संगठन प्रारूप है, जिसमें सभी व्यावसायिक सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप में अपनाते हुए सदैव इस बात का ध्यान रखा जाता है कि आर्थिक पहलू को मानवीय पहलू की अपेक्षा कहीं अधिक प्राथमिकता प्राप्त न हो जावे। सभी अन्य व्यावसायिक संगठनों में जहां व्यक्तिगत पूंजी

विनियोजित रहती है, विनियोजक का यह उद्देश्य रहता है कि उसे पूंजी पर ज्यादा से ज्यादा आय प्राप्त हो। लेकिन, केवल सहकारिता ही ऐसा व्यावसायिक संगठन प्रारूप है, जिसमें लाभांश की अपेक्षा मनुष्य समाज की सेवा और कल्याण प्रमुख समझा जाता है। इस आन्दोलन के द्वारा मानव का महत्व बढ़ता है और पूंजी का महत्व कम होता है। मानव के अंतःकरण में जो आंतरिक बोध देनेवाली आत्मा है, उसके शुद्धीकरण और विकासपर पर्याप्त ध्यान दिया जाता है। यदि हम यह कहें कि इस आन्दोलन में व्यावसायिक नैतिकता (business morality) बहुत ऊंचे स्तर की पाई जाती है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

मध्यग विलोपन (Elimination of Middlemen): इस वर्तमान औद्योगिक युग में वस्तुओं का निर्माण वृहत् स्तर पर होता है और उपभोक्ताओं तक पहुंचते-पहुंचते उन्हें विभिन्न मध्यगों के हस्तगत होते हुए गुजरना पड़ता है। इन सेवाओं के परिणामस्वरूप उन्हें कुछ पारिश्रमिक देना अनिवार्य हो जाता है, इससे वस्तुओं के मूल्यों में अभिवृद्धि हो जाती है। यह भार उपभोक्ता के ऊपर पड़ता है। सहकारिता इस प्रकार के मध्यगों को पूर्णतया प्रतिस्थापित कर देती है और मध्यगों के पेट में जानेवाला वस्तु-मूल्य का बहुत सा हिस्सा स्वयं उपभोक्ताओं व उत्पादकों को ही प्राप्त हो जाता है, इससे वस्तुओं के मूल्य भी उपयुक्त रहते हैं। उनका काला बाजार भी नहीं किया जाता और उनके वितरण की भी उपयुक्त व्यवस्था रहती है। सहकारिता आंदोलन प्रारम्भ होने के उपरांत, कुछ देशों में यह देखा गया है कि या तो मध्यग उस क्षेत्र से निकल जाते हैं अथवा अपनी कुप्रवृत्तियों को सुधार लेते हैं और अपनी उपयोगी सेवाओं के लिये ही केवल उपयुक्त पारिश्रमिक प्राप्त करते हैं।

समाज कल्याणकारी संस्थाओं से संबंध

समाज में कुछ और ऐसी संस्थाएं भी सामाजिक कल्याण के क्षेत्र में पाई जाती हैं जो कि सहकारिता से भिन्न हैं, किन्तु कुछ भिन्न दृष्टिकोण के साथ मानवीय कल्याण के उच्च आदर्शों को आधार बनाकर कार्यरत रहती हैं। इसलिये यह आवश्यक है कि हम यहां उन संस्थाओं के साथ सहकारिता का संबंध क्या रहता है; यह अध्ययन कर लें।

१. सहकारी समितियां और मानवीय कल्याण संस्थाएं (Co-operative Societies and Human Welfare Institutions): सहकारी समितियां मानवीय कल्याणकारी संस्थाओं से बहुत सी बातों में भिन्न होती हैं। सहकारी समिति सदस्यों के कल्याण की ओर विशेष रूप से ध्यान देती है और प्रत्येक समिति एक ही वर्ग की समस्याओं का निवारण करने का प्रयास करती है। इसके विपरीत, कल्याण संस्थाएं जिन प्रदेशों में कार्य करती हैं, वहां के सभी व्यक्तियों के कल्याण के लिये वे प्रयास किया करती हैं। उनके कार्य करने का बहुधा कोई एक विशेष क्षेत्र नहीं होता, बल्कि अनेक क्षेत्रों में वे पदार्पण करती हैं। उनका एकमात्र लक्ष्य यह रहता है कि किसी प्रकार जन-साधारण का हित कर सकें। व्यावहारिक जगत में कल्याण संस्थाएं पूंजीपतियों के चंगुल में फंस जाती हैं, क्योंकि उनके आय के साधन अन्यथा असंगठित और अनियमित होते हैं, जबकि कल्याणकारी कृत्यों की पूर्ति के लिये धन पर्याप्त चाहिये। प्रारंभ में, जो पूंजीपति बड़ी उदारता के साथ ऐसी संस्थाओं का स्वागत करते हैं, कुछ काल उपरांत उन्हें अपने पूंजीवादी स्वार्थों के लिये प्रयोग में लाने लगते हैं। सहकारी समितियां

इन कल्याणकारी संस्थाओं के समान कदापि किसी एक पूंजीपति के हाथ की कठपुतली नहीं बनतीं।

२. *सहकारी समितियां और व्यापारिक संघ* (Co-operative Societies & Trade Unions): व्यापारिक संघ, सेवायुक्त श्रमिक (employees) अपने औद्योगिक हितों के संरक्षणार्थ, देश विशेष के अधिनियमों के अंतर्गत निर्माण करते हैं। इस प्रकार ये संस्थाएं समाज के एक वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करती हैं और जिस क्षेत्र में संरक्षण प्रदान करती हैं, वह भी औद्योगिक संबंधों (industrial relations) आदि का है। इस प्रकार समाज के सभी व्यक्ति इनका फायदा नहीं उठाते, केवल औद्योगिक श्रमिक वर्ग ही इनसे लाभ उठा सकते हैं। सहकारिता समाज के सभी व्यक्तियों का आवाहन करती है, चाहे कोई गरीब हो अथवा अमीर, वह किसी भी जाति या धर्म में विश्वास क्यों न रखता हो, यदि उसका विश्वास सहकारी सिद्धांतों में है तो अवश्य ही उसके लिए सहकारी क्षेत्र में स्थान है।

३. *सहकारी समितियां और दान संस्थाएं* (Co-operative Societies & Endowment Institutions): सहकारी समितियां दान संस्थाओं से बिलकुल भिन्न हैं। दान संस्थाओं में बहुधा दान धनिकों से प्राप्त किया जाता है और गरीबों को वितरण किया जाता है। इससे गरीबों को कुछ मदद मिल जाती है। जो व्यक्ति इस प्रकार के दान पर निर्भर रहते हैं, वे बहुधा स्वाभिमान खो बैठते हैं और भिक्षा मांगने वाले के सदृश हो जाते हैं। सहकारी समिति सदस्यों को अकर्मण्य नहीं बनाती, मिलकर कार्य करने, स्वावलम्बन और आत्म-निर्भरता के सिद्धांतों को व्यावहारिक रूप देती है। इस प्रकार शोषण की भावनाओं को त्यागकर वर्ग-विहीन समाज के संस्थापन की नींव डालती है।

४. *सहकारिता और पूंजीवादी संस्थाएं* (Co-operative & Capitalistic Institutions): सहकारी संस्थाओं का उद्देश्य पारस्परिक हित और मानवीय विकास रहता है, किन्तु पूंजीवादी संस्थाओं का उद्देश्य लाभोपार्जन रहता है। भागिनासार्थ, एकल व्यवसायी व संयुक्तस्कंध प्रमंडल आदि आदि जो संगठन प्रारूप व्यावसायिक जगत में पाये जाते हैं, वे बहुधा पूंजीवाद की आधार शिलायें हैं। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा पूंजीवाद का पोषण होता है। सहकारिता इसके विपरीत है। वहां पर मानव को प्रतिष्ठा मिलती है। मानवीय कल्याण, समिति का प्रमुख लक्ष्य रहता है। लाभोपार्जन को प्रमुखता नहीं रहती। व्यक्तियों का शोषण नहीं किया जाता। सबको समान अधिकार, मतदान इत्यादि क्षेत्रों में रहते हैं। सदस्यों को पारस्परिक सहृदयता और मैत्रीपूर्ण व्यवहार का अवसर प्राप्त होता है। पूंजीवादी संस्थाओं में वर्गभेद, शोषण नीति, द्वेष व दूषित वातावरण पाया जाता है। एक वर्ग दूसरे वर्ग के शोषण का इच्छुक रहता है।

उदार व प्रगतिशील पूंजीपति यदि चाहें, तो उनके लिये सहकारिता क्षेत्र में काफी कार्य क्षेत्र हैं, केवल उन्हें अपनी प्रकृति व दृष्टिकोण बदलने पड़ेंगे। सहकारिता भी सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकारों को उसी प्रकार स्वीकार करती है, जैसे कि पूंजीवाद के अंतर्गत किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक व औद्योगिक प्रगति के लिये मानवीय शक्ति के साथ पूंजी का भी महत्व स्वीकार करती है। अन्तर केवल इतना ही है कि पूंजी को मानव से अधिक प्राथमिक (prior) महत्व नहीं देती।

५. *सहकारिता और समाजवाद* (Co-operation & Socialism): समाजवाद, पूंजीवाद से विपरीत अर्थ-व्यवस्था है। जन-साधारण को पूंजीवाद के शोषण के कटु अनुभव के

उपरांत, समाजवाद सबसे उत्तम लगता है। संसार के युवकों को 'समाजवाद' सबसे ज्यादा प्रिय लगता है। समाजवाद कितने ही प्रकार का होता है। एक लेखक ने तो यहां तक कह डाला कि, "समाजवाद उस टोप (hat) के समान है, जिसे सब पहिन लेते हैं और इसलिये उसने अपनी शक्ल (shape) ही खो दी है।" इतने पर भी समाजवाद के कुछ निश्चित प्रकार आज भी देखने में आते हैं। वे चार कहे जा सकते हैं :—

१. मार्क्सवादी समाजवाद, (Marxian Socialism)
२. राजकीय समाजवाद, (State Socialism)
३. गिल्ड समाजवाद, (Guild Socialism)
४. सिन्डीकेलिजम। (Syndicalism)

सब प्रकार के उपर्युक्त समाजवादियों के दो प्रमुख लक्ष्य रहते हैं। प्रथम सामाजिक कल्याण और दूसरा सम्पति में व्यक्तिगत अधिकारों की समाप्ति या संकुचन। इससे ज्ञात होता है कि समाज में धन व सम्पत्ति के असंतुलित वितरण के कारण जो विषमता आ गई है, वे उसे दूर करने की कोशिश करते हैं।

सहकारिता के द्वारा भी आर्थिक क्षेत्र में समता और स्वावलम्बन के सिद्धांतों का पालन करने का आदेश रहता है, किन्तु सहकारिता के समर्थकों के पास सम्पत्ति के उचित वितरण कराने या उसमें व्यक्तिगत अधिकारों के स्थान पर समष्टि के व्यापक अधिकारों के निहित कराने का कोई लक्ष्य नहीं रहता। समाज में जिसके पास जितना है, केवल उतने ही से उसे संतुष्ट रहना चाहिये और अपने साथियों के साथ मिलकर, स्वावलंबन और सामूहिक शक्ति द्वारा अपना और अपने साथियों का कल्याण करना चाहिये।

सहकारिता की सबसे बड़ी कमजोरी, इसलिये, इस बात में पाई जाती है कि साधन-विहीन व्यक्तियों के छोटे-छोटे संगठन बन जाते हैं जो मानव को, जो कुछ उसके पास है, उसी में सन्तुष्ट रहते हुए शान्तिपूर्वक जीविकोपार्जन करते रहने की नैतिक शिक्षा देते रहते हैं, जबकि दूसरी ओर समाज में कुछ गिने-चुने थोड़े से व्यक्ति दिनों-दिन लखपति और करोड़पति बनते चले जाते हैं। उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगता और न वे सहकारी समितियों को कभी कोई सहायता ही देते हैं।

उदाहरण के रूप में, फ्रांस, इंग्लैंड और भारतवर्ष तीनों देशों की आर्थिक स्थितियों पर दृष्टि डालकर देख लीजिये। फ्रांस में, २०० परिवारों के पास देश की आधी सम्पत्ति कुछ काल पूर्व तक थी, जबकि शेष देश की जनता के पास देश की आधी सम्पत्ति थी। भारतवर्ष में लगभग २ दर्जन परिवारों के पास औद्योगिक क्षेत्र में लगी हुई देश की $\frac{1}{3}$ पूंजी है। दूसरे शब्दों में ४ प्रतिशत जनता के अधिकार में देश की $\frac{1}{3}$ सम्पत्ति है, जबकि दूसरी ओर ६६ प्रतिशत सामान्य जनता के पास मुश्किल से दूसरी $\frac{1}{3}$ सम्पत्ति है तथा इसके अतिरिक्त ३० प्रतिशत मध्यम वर्ग की जनता के पास शेष $\frac{1}{3}$ सम्पत्ति है। इस प्रकार समाज में पूंजीपतियों और जन-साधारण के बीच गहरी खाई है, जिसे सहकारिता आन्दोलन तय करने में असफल रहता है। इंग्लैंड में भी राज परिवारों (Lord families) और भूपतियों (landlords & estate — holders) के कुछ परिवारों के पास देश के उत्पादन के सम्पूर्ण साधन हैं और सामान्य जनता औद्योगिक श्रमिक या कृषि श्रमिक के रूप में कार्य करती है। उसके पास उत्पादन के साधन "भूमि" और "पूंजी" पर्याप्त नहीं हैं।

इस प्रकार सहकारिता हैव्ज़ (haves) और हैव नॉट

(haves not) की जो विषम खाई (ditch) है, उसे पाटने में असफल रही है, जिस कारण सहकारिता का प्रारंभ में बड़े जोश के साथ स्वागत होता है, किन्तु कालान्तर में गति मंद पड़ जाती है। इससे जो विश्व को एक सबसे बड़ा लाभ हुआ है, वह भी हम नहीं भुला सकते। जिन देशों में, राज्य सरकारों और शिक्षित मध्यम वर्ग ने सहकारिता आन्दोलन के बीज रोंप दिये, वहां पूंजीवादियों के खिलाफ खुली खूनी क्रान्ति नहीं हुई।

जिन देशों में खूनी क्रान्ति हुई है, वहां भी क्रांतियों के बाद सहकारिता आन्दोलन का आश्रय लिया गया है, जिससे भविष्य में पुनः किसी दूसरी खूनी क्रान्ति की पुनरावृत्ति न हो। कुछ ऐसे देशों में, जो कि पूंजीवाद के गढ़ हैं, पीड़ित व शोषित जन-समाज के बीच भ्रातृत्व, संतोष, नैतिकता के नारे शान्तिमय वातावरण बनाये रखने के लिये लगाये जाते हैं। जिन औद्योगिक उपक्रमों में कुछ स्थानीय पूंजीपतियों द्वारा दी हुई दान राशियों के बल पर जो समितियां स्थापित कर दी जाती हैं, वे लड़खड़ाती ही चलती रही हैं। कुछ देशों की सरकारें भी केवल शांतिमय वातावरण बनाये रखने के उद्देश्य से, थोड़ी सी सहायता सहकारिता आन्दोलन को देती रहती हैं।

सहकारिता को विस्तृत एवं उदार हृदय से सहायता करने के लिये प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक राज्य और यहां तक कि पूंजीपतियों तक के लिये भी मार्ग खुला है, किन्तु व्यक्तिगत स्वार्थ पूर्ण करने के लिये इस पवित्र क्षेत्र में इनमें से किसी को भी पदार्पण नहीं करने देना चाहिये। प्रत्येक सक्रिय सहकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह स्वार्थ सिद्ध करने के उद्देश्य से, जो बाह्य सहायता प्राप्त होनी हो, उसका तिरस्कार कर दे। आत्मबल, नैतिकता व स्वावलम्बन आदि उच्च आदर्शों की रक्षा करना परमोद्देश्य होना चाहिये।

: ३ :

सहकारी समितियों का वर्गीकरण

Classification of Co-operative Societies)

सहकारी समितियों के उचित वर्गीकरण की बहुत सख्त आवश्यकता है। सहकारी समितियों का इतना अधिक प्रसार हो चला है कि मानवीय जीवन को सुखी बनाने के लिये तथा प्रत्येक आर्थिक समस्या को हल करने के लिये किसी न किसी प्रकार की सहकारी समिति प्रारम्भ की जा सकती है। एक ही देश में अनेकों प्रकार की समितियां मिलती हैं और जबकि सहकारिता एक विश्व-व्यापी आन्दोलन है, तो प्रत्येक देश की अनेकानेक प्रकार की समितियों का उचित वर्गीकरण दिनोंदिन अधिक गुरुतर कार्य होता जाता है; किन्तु साथ ही साथ इनके वैज्ञानिक आधार पर वर्गीकरण करने का महत्व दिनोंदिन बढ़ता जाता है। सहकारी समितियों के वर्गीकरण के समर्थन में तीन कारण व्यक्त किये जाते हैं :—

१. विभिन्न प्रकार की समितियों के प्रनियमों के अध्ययन करने में सुविधा बढ़ेगी।

२. स्वतंत्र रूप से, विभिन्न प्रदेशों की, सहकारिता सम्बन्धी

प्रगति, तुलनात्मक आधार पर, अध्ययन की जा सकेगी।

३. निश्चित् वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन करने से, उन उचित सिद्धांतों व निष्कर्षों पर पहुंचने में अधिक मदद मिलेगी, जो सहकारिता के भावी कार्यक्रम को पिछड़े हुए देशों में प्रसार करने में अधिक सहायक सिद्ध होंगे।

वर्गीकरण के आधार

सहकारी समितियों के वर्गीकरण का आधार क्या होना चाहिए, एक बड़ा ही जटिल प्रश्न है। निष्पक्ष दृष्टिकोण से आवश्यकीय आंकड़े उपलब्ध कर लेने के उपरान्त भी, उन्हें पाठकों के समक्ष उपस्थित करने के लिए यह जरूरी हो जाता है कि उनका, कुछ निश्चित ऐसे प्रमुख, पूर्व-निर्धारित तथा सर्वसम्मति से स्वीकृत सिद्धांतों के आधार पर, वर्गीकरण किया जाय जिसमें विभिन्न रूपेण सभी सहकारी समितियों का समावेश हो सके। इसके अतिरिक्त, सहकारिता सम्बन्धी सांख्यिक आंकड़े एकत्रित करते समय इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि कुछ समितियां दो बार सम्मिलित न कर ली जायें।

विभिन्न देशों में, सहकारिता सम्बन्धी विभिन्न वर्गीकरण अपनाये गये हैं और उसी आधार पर संग्रहीत आंकड़े प्रस्तुत किये जाते हैं। इसलिये सभी देशों के आंकड़ों में समानता नहीं पायी जाती। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की सहकारिता सेवा (co-operative-service) द्वारा जो विभिन्न देशों के सहकारिता के आंकड़े एकत्रित करने के प्रयास किये गये हैं, उनमें भी बहुधा

इसी कारण असफलता मिली है कि सहकारिता समितियों का कोई समान विश्व-स्वीकृत वर्गीकरण आज तक प्राप्त नहीं है। विभिन्न देशों के सहकारिता संगठनों ने, जिनकी संख्या आजकल २६ है, एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था स्थापित की है, जिसका इंटरनेशनल को-आपरेटिव एलायन्स (International Co-operative Alliance) नाम रखा गया है। उसका मुख्य कार्यालय लन्दन में है। यह संस्था, विभिन्न देशों के सहकारिता आन्दोलन में समानता लाने के लिये प्रयास कर रही है तथा सहकारिता के विभिन्न क्षेत्रों में अनुसंधान करने के लिये सुविधायें भी प्रदान करती है।

इन सब अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों के उपरान्त भी, सहकारिता समितियों का कोई उचित वर्गीकरण विश्व-प्रख्यात तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति प्रदत्त नहीं है। यहां नीचे कुछ अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वानों द्वारा जो वर्गीकरण प्रस्तुत किये गये हैं, उनका उल्लेख किया जा रहा है :—

१. *डाक्टर फे (Dr. Fay) द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण*: "को-ऑपरेशन एट होम एण्ड एब्राड" (दो भाग) के रचयिता डाक्टर सी. आर. फे ने सहकारी समितियों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया है :—

१. सहकारी अधिकोष (co-operative bank)

२. कृषिगत समितियां (agricultural societies)

३. श्रमिक सहकारी समितियां (workers co-operative societies)

iv. सहकारी भण्डार (co-operative stores)

यह वर्गीकरण २० वीं शताब्दी की विभिन्न सहकारी समितियों का समावेश नहीं कर पाता, जो कि आज विभिन्न देशों में पाई जातीं हैं। इसके अतिरिक्त, इस वर्गीकरण का कोई वैज्ञानिक आधार भी नहीं है।

२. *डाक्टर फैक्वेट* (Dr. Facquet) *द्वारा प्रस्तावित वर्गीकरण:* डाक्टर फैक्वेट ने सहकारी समितियों का वर्गीकरण इस प्रकार किया है :—

१. उपभोक्ता सहकारी समितियां (consumers' co-operative societies)

२. गृह निर्माण समितियां (housing societies)

३. पेशेवार सहकारी समितियां (occupational co-operative societies)

४. कृषि समितियां (agricultural societies)

५. विविध सहकारी समितियां (miscellaneous co-operative societies)

इस वर्गीकरण के अन्तर्गत भी वे दोनों दोष पाये जाते हैं, जिनका उल्लेख प्रथम वर्गीकरण के विषय में किया गया है.. प्रथम तो सभी वर्ग की समितियों का इसमें समावेश नहीं होने पाया है और दूसरे इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है।

३. *अन्तर्राष्ट्रीय कृषि संस्था (इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट आफ एग्रीकल्चर, रोम) द्वारा सहकारी समितियों का वर्गीकरण :*

इस संस्था द्वारा सहकारी समितियों का निम्नलिखित वर्गीकरण किया गया है :—

१. प्रत्यय समितियां (credit societies)

२. उत्पादन समितियां (production societies)

३. विक्रय समितियां (sales societies)

४. उत्पादन एवं विक्रय समितियां (production & sales societies)

५. क्रय समितियां (purchases societies)

इस वर्गीकरण का आधार, यद्यपि, पूर्णरूपेण वैज्ञानिक नहीं है, किन्तु फिर भी संतोषजनक है और लगभग सभी वर्ग की समितियों का समावेश कर लेता है। इसमें भी क्रय एवं विक्रय वर्ग की समितियों का उल्लेख नहीं है। इसके अतिरिक्त आगोप समितियां (insurance societies), गृह-निर्माण समितियां और यातायात समितियों को सम्मिलित करना भी जरूरी हो चला है। इन तीनों उपर्युक्त वर्गीकरण के अन्तर्गत ग्रामीण एवं शहरी समितियों का अलग वर्ग स्वीकार नहीं किया गया है। व्यवहार में, इन दोनों क्षेत्रों की समितियों के सिद्धांतों में काफी विभिन्नता पाई जाती है। वर्गीकरण क्रमांक १ और २ में कृषिज समितियों के अन्तर्गत, सम्भवतः उन सभी चार-पांच प्रकार की कृषिज समितियों को सन्निहित मान लिया गया है, जो कि शहरी क्षेत्र के लिये अलग व्यक्त की जा सकती हैं। ग्रामीण और शहरी समितियों के दो भिन्न-भिन्न क्षेत्र, सहकारिता के लिये समान विस्तार के साथ खुले हैं। इसलिये, दोनों क्षेत्रों में लगभग समान वर्ग की समितियां सम्मलित की जानी चाहिये। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया (Reserve Bank of India) द्वारा एक अधिक उपयुक्त वर्गीकरण देने की कोशिश की गई है। पहले तीनों

वर्गीकरण विश्व-प्रख्यात हैं, इसलिये कुछ लेखकों ने उनके वर्गीकरण को अन्तर्राष्ट्रीय माना है, जबकि रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया के वर्गीकरण को प्रादेशिक स्वीकार कर सकते हैं। किन्तु, यह वर्गीकरण उपर्युक्त तीनों वर्गीकरण से अधिक वैज्ञानिक है और इसमें सब प्रकार की सहकारी समितियों का सुगमता से समावेश हो जाता है।

४. *रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया का वर्गीकरण* : इस वर्गीकरण के अन्तर्गत सहकारी समितियां पांच प्रमुख वर्गों में, कार्यक्षेत्र के आधार पर, विभाजित की गई हैं। तदुपरांत, उन पांचों प्रमुख वर्गों के उपवर्ग किये गये हैं। यह वर्गीकरण निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है :—

क. कृषिज समितियां (Agricultural Societies)

१. प्रत्यय समितियां (credit societies)

२. क्रय या क्रय-विक्रय समितियां (purchase or purchase & sales societies)

३. उत्पादन समितियां (production societies)

४. उत्पादन व विक्रय समितियां (production & sales societies)

५. विविध समितियां (miscellaneous societies)

ख. भू-प्राधि अधिकोष तथा अन्य अधिकोषण संस्थाएं (Land Mortgage Banks or other Banking Institutions)

ग. शहरी या अ-कृषिज समितियां (Urban & Non-agricultural Societies)

१. प्रत्यय समितियां (credit societies)

२. क्रय या क्रय-विक्रय समितियां (purchase or purchase & sales societies)

३. उत्पादन समितियां (production societies)

४. उत्पादन व विक्रय समितियां (production & sales societies)

५. विविध समितियां (miscellaneous societies)

द. बीमा समितियां (Insurance Societies)

१. जीवन आगोप समितियां (life assurance societies)

२. पशु-जीवन आगोप समितियां (animal insurance societies)

३. अन्य आगोप समितियां—जैसे घटना, अग्नि तथा सामुद्रिक बीमा (miscellaneous insurance societies, viz., accident, fire and marine)

ड. गृह-निर्माण समितियां (Housing Societies)

च. यातायात समितियां (Transport Societies)

यद्यपि यह वर्गीकरण अन्य वर्गीकरणों से अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त व क्रमबद्ध है, किन्तु इस वर्गीकरण के अन्तर्गत, प्रत्येक वर्ग की समितियों के क्षेत्रीय आधार पर अवलम्बित प्राथमिक, केन्द्रीय तथा प्रादेशिक, इन तीन क्रमिक विकासों की स्थितियों का समावेश नहीं हो पाया है।

५. *सहकारी समितियों का एक वर्गीकरण सहकारिता संयोजना समिति* (Co-operative Planning Committee, 1946) *द्वारा*

अपने प्रतिवेदन में अपनाया गया है, जो कि उन्होंने आदरणीय सरैया जी की अध्यक्षता में केन्द्रीय सरकार को सन् १९४६ में प्रस्तुत की थी :—

क. कृषिज समितियां
(Agricultural Societies)

१. प्रत्यय समितियां (credit societies)
२. कृषि उत्पादन समितियां (agriculture production societies)
३. कृषिज भूमि चक-बन्दी समितियां (consolidation societies for agricultural lands)
४. फल व शाक-भाजी उत्पादन समितियां fruits & vegetables growers' societies)
५. जंगलात उपज समितियां (forest products societies)
६. उत्तम पशु-नस्ल-समितियां (better animal breed societies)
७. दूध वितरण समितियां (milk distribution societies)
८. उपज विपणन समितियां (marketing societies)
९. वस्तु क्रय या विक्रय समितियां या सहकारी भण्डार (purchase and sales societies or consumers' stores)
१०. विविध समितियां (miscellaneous societies)
उदाहरणार्थ—खाद, बीज वितरण आदि के लिये।

ख. शहरी या अ-कृषिज समितियां
(Urban or Non-Agricultural Societies)

१. हस्तकौशल व घरेलू उद्योग समितियां (handicrafts & household industrial societies)

२. श्रमिक क्षेमकरण समितियां (labour welfare societies)

३. प्रत्यय समितियां (credit societies)

४. उपभोक्ता भण्डार (consumers' stores)

५. गृह-निर्माण समितियां (housing societies)

६. केन्द्रीय अधिकोष (central bank)

'केन्द्रीय' (central) शब्द बहुत ही भ्रमात्मक है, क्योंकि बहुधा उससे प्रांतीय शब्द की अपेक्षा बड़े क्षेत्र का बोध होने लगता है; किन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि इस शब्द के स्थान पर क्षेत्रीय (regional) या (zonal) शब्द का प्रयोग किया जाय। सहकारिता के क्षेत्र में केन्द्रीय शब्द इतना अधिक प्रचलित हो गया है कि उसे क्षेत्रीय (regional) शब्द से प्रतिस्थापित करने की ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है।)

ग. केन्द्रीय सहकारी संस्थाएं
(Central Co-operative Institutions)

१. प्रांतीय सहकारी अधिकोष (provincial co-operative bank)

२. केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष (central land mortgage banks)

३. प्रान्तीय संघ (provincial federations)

४. सहकारी शिक्षण संस्थाएं (co-operative training institutes)

घ. आगोप समितियां (insurance societies)

१. जीवन आगोप समितियां (life assurance societies)

२. औद्योगिक श्रमिक बीमा समितियां (industrial workers' assurance societies)

ङ. विविध आगोप समितियां

(Miscellaneous Insurance Societies)

जैसेः—अग्नि-बीमा व घटना-बीमा आदि आदि।

इन विभिन्न वर्गीकरणों का अध्ययन करने के उपरांत यह प्रतीत होता है कि किसी भी वर्गीकरण में, एक साथ समितियां प्रकार्य (functional) और क्षेत्रीय (regional) आधारों पर वर्गीकृत नहीं की गई हैं। इसलिये, निम्न प्रदर्शित वर्गीकरण, इन सब आधारों को ध्यान में रखते हुए लेखक की ओर से प्रस्तावित किया जाता है। क्षेत्रीय आधार पर, समितियों के, प्रारंभिक समितियां (primary societies), माध्यमिक समितियां (regional or zonal societies), प्रादेशिक समितियां (provincial or state societies), तीन विभाग किये हैं। इसके अतिरिक्त, 'कृषिज' और 'अ-कृषिज' अर्थ-व्यवस्था के दो विभिन्न पक्षों का भी इसमें पूर्णतया समावेश है। अध्ययन की सुविधा के दृष्टिकोण से तालिका के रूप में इस वर्गीकरण को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है।

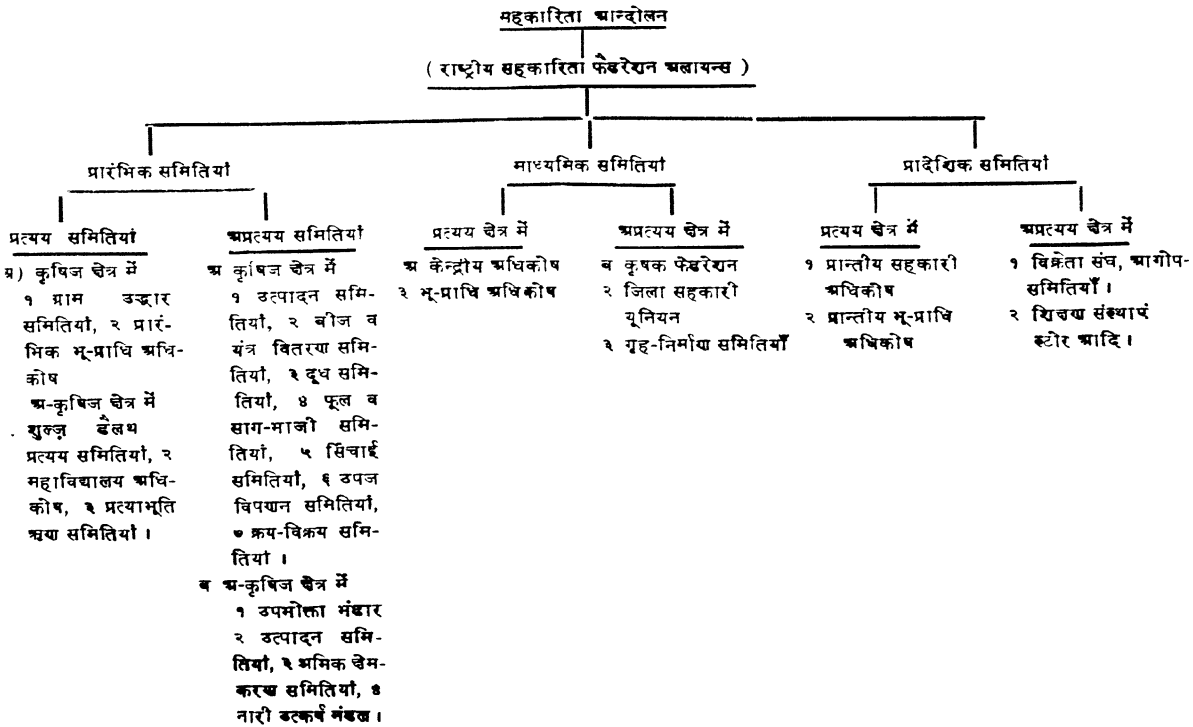
सहकारिता आन्दोलन
(राष्ट्रीय सहकारिता फेडरेशन अलायन्स)
प्रारंभिक समितियां
प्रत्यय समितियां
अ) कृषिज क्षेत्र में
१ ग्राम उद्धार समितियां, २ प्रारंभिक भू-प्राधि अधिकोष
ब-कृषिज क्षेत्र में
गुल्ड़ डैलथ
प्रत्यय समितियां, २ महाविद्यालय अधिकोष, ३ प्रत्याभूति ऋण समितियां।
अप्रत्यय समितियां
अ कृषिज क्षेत्र में
१ उत्पादन समितियां, २ बीज व यंत्र वितरण समितियां, ३ दूध समितियां, ४ फूल व साग-भाजी समितियां, ५ सिंचाई समितियां, ६ उपज विपणन समितियां, ७ क्रय-विक्रय समितियां।
ब अ-कृषिज क्षेत्र में
१ उपभोक्ता भंडार २ उत्पादन समितियां, ३ श्रमिक क्षेम-करण समितियां, ४ नारी उत्कर्ष मंडल।
माध्यमिक समितियां
प्रत्यय क्षेत्र में
अ केन्द्रीय अधिकोष
३ भू-प्राधि अधिकोष
अप्रत्यय क्षेत्र में
ब कृषक फेडरेशन
२ जिला सहकारी यूनियन
३ गृह-निर्माण समितियाँ
प्रादेशिक समितियां
प्रत्यय क्षेत्र में
१ प्रान्तीय सहकारी अधिकोष
२ प्रान्तीय भू-प्राधि अधिकोष
अप्रत्यय क्षेत्र में
१ विक्रेता संघ, आगोप-समितियाँ।
२ शिक्षण संस्थाएं स्टोर आदि।

व्यवहार में वर्गीकरण की इतनी अधिक जटिलता यद्यपि सुविधाजनक प्रतीत नहीं होती, किन्तु विश्व के विभिन्न देशों के आंकड़े विधिवत् संग्रहीत करने के उद्देश्य से इस प्रकार के वर्गीकरण की सबसे अधिक आवश्यकता है।

उपभोक्ता भंडार बनाम क्रय-विक्रय समितियां (Consumers' Stores V/s Purchase & Sales Societies).

उपभोक्ता भंडारों का ब्रिटेन में बहुत प्रचार है, किन्तु उस तरह के भंडार विश्व के और देशों में नहीं पाये जाते। इंग्लैंड के कुछ भागों में भी, उनका रूप परिवर्तित होता जा रहा है। वे ग्रामों में, नगरों से क्रय करके अनेकानेक वस्तुएं, ग्रामीणों के दैनिक उपयोग के लिये उपलब्ध करते हैं। सहकारिता समितियों के वर्गीकरण में ग्रामों में काम करने वाले सहकारी भंडार को उपभोक्ता भंडार न कहकर क्रय-विक्रय समितियां कहते हैं।

उपभोक्ता भंडार बनाम उत्पादन व विक्रय समितियां (Consumers' Stores V/s Production & Sales Societies):

नगरों में, जो सैकड़ों वर्षों से उपभोक्ता भंडार कार्य करते चले आ रहे थे, जब उनके पास अपने गत वर्षों के उपार्जित लाभों से पर्याप्त संचितियां एकत्रित हो गईं और उनके हजारों स्वामिभक्त अनुयायी (ग्राहक) सदस्य बन गये, तब उन्होंने उन वस्तुओं के स्वयं उत्पादन करने की योजनाएं बनानी शुरू कीं। इस प्रकार बहुत से उपभोक्ता भंडार उत्पादन के क्षेत्रों में पदार्पण कर चुके हैं। साथ ही साथ उपभोक्ता भंडारों के जो कार्य थे, वे भी बराबर उनके विक्रय विभाग करते चले जा रहे हैं। इस तरह आज से १०० वर्ष पहले, शहरों में जो सहकारी भंडार थे, उनका आज वास्तविक रूप, उत्पादन व विक्रय समितियों का रूप हो गया है।

उत्पादन व विक्रय समितियां अपने बिक्री विभागों के लिये वस्तुएं किस मूल्य पर उपलब्ध करें और क्या इसी मूल्य पर क्रय-विक्रय समितियों को ग्रामों में अपनी उत्पादित वस्तुएं विक्रय हेतु उपलब्ध करें, आदि आदि अनेक ऐसे ही जटिल प्रश्न इन समितियों के समक्ष उपस्थित हो गये हैं।

जिन व्यक्तियों ने उपभोक्ता आन्दोलन को उत्पादन के क्षेत्रों में पदार्पण करने का समर्थन किया है, उनका यह दावा है कि हमारे उपभोक्ता भंडार लाभोपार्जन के लिये उत्पादन के क्षेत्र में पदार्पण नहीं करते, बल्कि उनके इस क्षेत्र में पदार्पण करने का एकमात्र उद्देश्य, अपने ग्राहक सदस्यों की सेवा करना रहता है। इसलिये वे अपनी मूल्य नीति इस ढंग से निश्चित करें कि उन्हें उनकी उत्पादन क्षेत्र में विनियोजित पूंजी पर उचित प्रत्यय (reasonable return) मिल सके। ऐसी दशा में बहुधा, उनके मूल्य पूंजीपतियों की संस्थाओं द्वारा उत्पादित वस्तुओं के मूल्यों से कम ही रहेंगे। इन कम मूल्यों पर अपने सदस्यों की सेवा करते रहना कोई हानिकारक बात नहीं है। किन्तु, प्रश्न इस बात का उठता है कि इन उपभोक्ता भंडारों में गैर सदस्यों द्वारा भी उचित व अनुचित ढंग से उन्हीं मूल्यों पर वस्तुएं प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है। अन्य व्यवसायियों की अपेक्षा कम मूल्य रखने से भ्रष्टाचार फैलता है। इसके अतिरिक्त उपभोक्ता सदस्यों को क्रय-बोनस (purchase bonus) भी वर्ष के अन्त में कुछ नहीं मिलेगा। इस क्रय-बोनस का बहुत बड़ा आकर्षण सदस्यों को रहता है। यदि क्रय-बोनस नहीं मिला और भ्रष्टाचार फैलने लगा, तो बहुत से सदस्य उपभोक्ता भंडार के प्रति वफादार नहीं रहेंगे और सदस्यता त्याग देंगे। इन कारणों से उत्पादन व विक्रय समितियों को अपनी मूल नीति निर्धारित

करने समय ऐसी नीति अनुसरण करनी चाहिये, जिसके द्वारा उत्पादन क्षेत्र में विनियोजित पूंजी पर भी उचित लाभांश मिल सके और बिक्री विभाग से क्रय करने वाले क्रेता सदस्यों को भी वर्ष के अन्त में क्रय-बोनस प्राप्त हो सके तथा साथ ही साथ अन्य व्यवसायियों की अपेक्षा वस्तु मूल्य ऐसे स्तर पर निश्चित किये जायें कि उससे गैर सदस्य भी यदि माल लें तो उनके व्यवहारों का कोई प्रभाव भंडार के स्थायी सदस्यों पर न पड़े।

इसके अतिरिक्त, ग्रामों में कार्य करने वाली क्रय-विक्रय समितियां भी, जो वस्तुएं नगर से क्रय करके ले जायें, वे, जहां तक संभव हो सके, सहकारी आधार पर संचालित उत्पादन व विक्रय समितियों से ही उपलब्ध करें। इन दोनों वर्गों की संस्थाओं में बहुत निकटतम मैत्रीपूर्ण सद्व्यवहार रहना चाहिये। इसके लिये एक सुझाव यह है कि उत्पादन एवं विक्रय समितियां उन क्रय-विक्रय समितियों को, जो उनके यहां से माल खरीद कर ले जाती हैं, अपने स्थायी ग्राहक मान लें और सदस्यता के रूप में दो-चार अंश पूंजी में योग दान ले लें। इन क्रय-विक्रय समितियों को भी क्रय-बोनस जैसा ही प्रेरणात्मक लाभांश या क्रय-अपहार (incentive dividend or purchase rebate) वर्ष भर की क्रय पर प्रदान किया करें।

: ४ :

सहकारी आन्दोलन का विश्व में विकास

(Development of Co-operative Movement)

औद्योगिक क्रांति के प्रभाव से १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मनुष्य को संयन्त्रों ने ऐसा आच्छादित कर डाला कि मानवीय मनोवृत्तियों को अपनी सुप्त व्यवस्था को एक नई चेतना, एक नया परिवर्तन, सामाजिक कल्याणकारी सहकारिता आन्दोलन के रूप में खोज निकालना पड़ा। ग्रामीण, ग्रामों को छोड़ नगरों में पूंजीपतियों के आश्रित आ पड़े थे। पूंजीवाद का कृषि क्षेत्र में भी बोलबाला हो चला था। बड़े-बड़े उद्योगों में सर्वत्र पूंजी का निष्कंटक साम्राज्य था और कृषि में भी यन्त्रों का प्रयोग कर रहे थे, जो कि औद्योगिक क्रांतिकाल में उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में दिनों-दिन महत्त्वशील होते चले जा रहे थे। सामान्य साधनवाले व्यक्तियों को इस प्रकार से औद्योगिक, कृषिज व वाणिज्य, आदि आदि विभिन्न क्षेत्रों से साधन-सम्पन्न पूंजीपतियों द्वारा श्रमिक वर्ग में परिणित किया जा रहा था। वे श्रमिक औद्योगिक क्षेत्र में औद्योगिक श्रमिक कहलाते थे और जो व्यक्ति ग्रामों में ही रहकर कार्य करते रहे, वे कृषि-विहीन कृषिज श्रमिक कहलाये। इस प्रकार का पूंजी का कुप्रभाव किसी एक ही देश में अनुभव नहीं किया जा रहा था, बल्कि यूरोप के सभी देशों में, और उन अन्य अमेरिकन देशों में जहाँ औद्योगिक

क्रांति अपना घर कर चुकी थी, समान प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा था। उदाहरणस्वरूप, इंग्लैंड में सन १७०० से लेकर १७५० तक ३ लाख ५० हजार एकड़ भूमि छोटे-छोटे भू-पतियों के हाथ से निकल गई। १७६० से १८४६ के बीच ८० लाख एकड़ भूमि इसी प्रकार स्थानान्तरित हो, छोटे-छोटे भू-पति के पास से बड़े पूंजीपतियों के पास आ गयी।

समाज में सामान्य वर्ग इस प्रकार दिनोंदिन पूंजी के हाथों में बिकता चला जा रहा था, उसके सब अधिकार छिनते चले जा रहे थे, उसकी जीविका के जो कुछ साधन थे, उनसे वे वंचित किये जा रहे थे; तत्कालीन सरकारें कोई संरक्षण नहीं दे रही थीं, क्योंकि उन सरकारों की तो हस्तक्षेप न करने की यश-विन्तकुर्वन्त (laissez faire) नीति थी। इस प्रकार मानव का शोषण, बिना किसी हस्तक्षेप के निर्द्वन्द रूप से हर देश में हो रहा था। ऐसी दलित दशा में शोषित श्रमिक वर्ग जो कुछ उदर-पूर्ति योग्य वेतन अपने सेवा योजकों से प्राप्त कर पाता था, उसी पर अपने दुर्दिनों की जीवन नौका चला रहा था। पूंजीपतियों को पर्याप्त श्रमिक मिलते थे, इसलिए वे दिनोंदिन वेतन कम करते चले जा रहे थे। दिन में १८ घंटे मजदूरों से काम लेते थे, जब कहीं उन्हें उदर-पूर्ति के लिये पर्याप्त मिलता था। उन लोगों के पास रहने के लिये मकान तक न थे। सेवायोजकों द्वारा जो कुछ काल कोठरियाँ, जहाँ न हवा का प्रवेश होता था और न सूर्य की रोशनी का, वहाँ उन्हें रहना पड़ता था। छोटे-छोटे बच्चे, जिनकी उम्र ७-८ साल की होती थी, १४-१५ घंटे काम करते थे। इससे भी कम उम्र के बच्चे, जिन्हें 'चिमनी ब्वायज़' (chemistry boys) कहते थे, इंग्लैंड की बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओं और निर्माणियों में लगी हुई धुँए की चिमनियों को, उनके भीतर घुसकर साफ किया करते थे,

जिसमें उनका शरीर बहुधा छिल जाया करता था और चिमनी के अन्दर शुद्ध वायु के अभाव के कारण उनका दम घुटने लगता था। खदानों में श्रमिकों की इससे भी बुरी हालत थी। स्त्री-पुरुषों को साथ-साथ काम करना पड़ता था। आराम के बहुत कम घण्टे थे। उनसे बहुत कड़ाई के साथ काम लिया जाता था। बहुधा गोराशाही सारजेन्ट कोड़े (whips) लेकर इन खानों में काम करने वाले स्त्री–पुरुषों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करते थे, जो कि आज जानवरों के साथ भी शायद किसी देश में नहीं किया जाता। तन ढंकने के लिए मुश्किल से काम करनेवाली नवयुवतियों को पर्याप्त वस्त्र मिलते थे और उन्हें गर्भवती होने की अवस्था में भी बोझ के भारी टोकरे उदरपूर्ति के लिये उठाने पड़ते थे। उनके वेतन इतने कम होते थे कि कई महीने की व्यवस्था के बाद उनके पास पर्याप्त राशि संचित न हो पाती थी। इस प्रकार कार्य करनेवाले स्त्री-पुरुषों के समक्ष दलित जीवन के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं था। वे आधे पेट भूखे रहकर भी पूंजीपतियों की मिलें चलाते थे, जिनसे पूंजीपतियों को दिनोंदिन लाखों-करोड़ों का लाभ होता था। इस प्रकार, समाज के अन्दर दो वर्ग हो गए थे और उनके बीच विषमता उच्चतम बिन्दु तक पहुँच चुकी थी। जब इस आर्थिक विषमता से प्रतिरोध के लक्षण दिखाई देने लगे, तब समाज के कुछ शिक्षित मध्यम वर्ग के व्यक्तियों ने मानवीय कल्याण और सामाजिक हित की माँग उठाई। उन असंतोषजनक परिस्थितियों में इस आवाज़ को बुलन्द करनेवालों के बहुत से अनुयायी शोषित वर्ग में से मिलने लगे।

समाज में मानवीय हित की भावनाओं से ओतप्रोत जो कुछ थोड़े से व्यक्ति यदाकदा पैदा हुए हैं, उन्हीं के जीवन का इतिहास वास्तव में सहकारिता आन्दोलन का इतिहास है।

रावर्ट ओवेन (Robert Owen) का नाम समाज सेवी और मानवीय कल्याण की भावना से ओतप्रोत उन कुछ व्यक्तियों में से प्रातःस्मरणीय रहेगा, जिन्होंने सहकारिता आन्दोलन को जन्म दिया। उनका जन्म १७७१ में ब्रिटेन में हुआ था और उन्होंने एक कपास की मिल में कुछ काल तक सहायक के रूप में काम किया था। तदुपरान्त उन्होंने मिल में तकुआ चलानेवाले (spinner) के पद पर कार्य किया। वे बहुत ही परिश्रमी, दयालु और सहानुभूति रखनेवाले व्यक्ति थे। अपने परिश्रम और मृदुल स्वभाव के कारण बाद में एक कपास के मिल के मैनेजर हो गये। इस मिल में लगभग २,००० व्यक्ति काम करते थे।

राबर्ट ओवन का झुकाव बचपन से ही समाजवाद की ओर था, इसलिये व्यावहारिक जीवन में पदार्पण करते ही उसने अपने चिर इच्छित स्वप्नों को वास्तविक रूप देने की कोशिश की। विषमता से परिपूर्ण सामाजिक वातावरण को श्रमिक वर्ग के अधिकाधिक हित में परिणित करने का उसने आजन्म प्रयास किया। उसका दृढ़ विचार था कि अगर हम सामाजिक वातावरण को बदल दें, तो मनुष्य सज्जन (सत्जन) सिद्ध होगा। जो वर्तमान दूषित परिस्थितियाँ आज हमने समाज में पैदा कर रखी हैं, उनके कारण मनुष्य को अपना व्यक्तिगत दायित्व पूर्ण-रूपेण निभाने का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त नहीं होता है। उसने जायदाद, धर्म और विवाह इन तीन सामाजिक संस्थाओं को तत्कालीन पूंजीवादी व्यवस्था के आधार (basis) मान रखे थे, इसलिये मानवीय कल्याण में जहां कहीं ये तीनों सिद्धांत विरोधी प्रगट होते आये, वह उनको त्यागने तक के लिये तत्पर था। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में, जो अर्थ, धन, प्रति-स्पर्धा और लाभोपार्जन पर जोर दिया जाता है, वह इन तीनों के बिना ही

सामाजिक अर्थ-व्यवस्था को संचालित करना चाहता था। उसके विचारानुसार प्रति-स्पर्धा युद्ध है. और लाभोपार्जन युद्धजनित विनाश है। उसके विचारों में श्रमिकों की गरीबी, भुखमरी और दुर्दशा सदैव ताण्डव नृत्य करती रहती थी, जिनके सुधारने के लिये उसने सहकारिता के सिद्धांतों का आश्रय लिया।

राबर्ट ओवन ने अपनी मिल के कर्मचारियों के लिये एक आदर्श व्यवस्था की, जिसे "बागों का नगर" (Garden City) कहते हैं। उसके अपने शब्दों में उस बस्ती का नाम मिल्यू (Millieu) था। इस बस्ती में शराब पीने पर पूर्ण प्रतिबन्ध था, न कोई शराब की दूकान थी। श्रमिकों के कल्याण हेतु अनेकानेक गतिविधियां उस बस्ती में कार्य करती थीं। श्रमिकों में आपस में बिलकुल बराबरी का व्यवहार था। उसकी मिल में प्रति-स्पर्धा, लाभोपार्जन-लिप्सा और अर्थ-लोलुपता, इन तीनों कुरीतियों को पूर्णतया समाप्त कर दिया गया था। सहकारी संगठन स्थापित करके मध्यस्थों (middle-men) को अलग कर दिया गया तथा उत्पादकों व उपभोक्ताओं के बीच प्रत्यक्ष संबंध स्थापित कर दिये गये। श्रमिकों के कार्य करने के घंटे १७ से घटाकर १० घंटे कर दिये गये। इस सुधार से श्रमिक स्वतः काम बड़ी तेजी से करने लगे और यंत्र आदि को बहुत सम्हाल कर काम में लाते थे। बाल श्रमिकों को काम पर लगाना बिलकुल बन्द कर दिया गया। बच्चों की शिक्षा के लिये श्रमिक बस्ती में शिक्षा की व्यवस्था कर दी गई। प्रत्येक श्रमिक की कार्य-शक्ति का उचित अभिलेख (record) रखा जाता था। हरएक श्रमिक को कार्यशील बनने की अधिकाधिक प्रेरणा दी जाती थी। उन लोगों को दण्डस्वरूप आर्थिक जुर्माना नहीं किया जाता था, बल्कि उनके स्वाभिमान को जागृत करके उन्हें उनके दायित्वों के प्रति उत्तरदायी बनाया जाता था।

अपने नवीन प्रयोगों का राबर्ट ओवन ने अपने अन्य पूंजीपति साथियों के समक्ष समयसमय पर प्रदर्शन (demonstration) किया और साथ ही साथ, सरकार से भी अपनी नीति बदलने के लिये शिक्षित वर्ग द्वारा दबाव डालना शुरू किया। इसके अतिरिक्त तत्कालीन पार्लियामेंट के सदस्यों को भी तत्कालीन कुरीतियों से अवगत कराने की कोशिश की। किन्तु, न तो पूंजीपति ही उसकी बातों को सुनने थे और न सरकार ही इस ओर कोई ध्यान दे रही थी। ऐसी दशा में उसके सामने एक ही रास्ता था कि वह स्वयं श्रमिकों को ही सुसंगठित करे। उनके संगठन और सामूहिक शक्ति के समक्ष पूंजीपतियों और सरकार को स्वतः झुक जाना पड़ेगा। उसने ठीक वैसा ही किया और कुछ थोड़े समय ही में श्रमिक दलों ने राबर्ट ओवन के नेतृत्व में अपने उद्देश्यों की ओर बढ़ना प्रारम्भ कर दिया। राबर्ट ओवन को अपने ही विचारों से साम्य रखने वाला दूसरा साथी चार्ल्स फोरर (Charles Fourier) और मिल गया। पुराने विचार के व्यक्ति इन लोगों का काफी विरोध और कटु आलोचना कर रहे थे। इसी समय कुछ पादरियों ने, जो कि बाद में समाजवादी क्रिश्चियन कहलाए, इन लोगों का साथ देना शुरू किया। चर्च सर्विस (Church Service) के वक्त बहुधा अपने भाषणों में वे कुरीतियों का नैतिक वर्णन करने लगे—"उस समाज में, जहां कुछ थोड़े-से व्यक्ति सम्पूर्ण पूंजी और साधनों के मालिक हों और जन साधारण, जो युग युगान्तर से जमीन के कृषि-खण्डों पर खेती करते चले आ रहे थे, उससे भी वंचित कर दिये जायं और केवल दैनिक वेतन के आधार पर या भिक्षा के आधार पर जीवन निर्वाह करते फिरें, ऐसी अर्थ-व्यवस्था, ईसा मसीह द्वारा वर्णित देवताओं के राज्य के बिलकुल विपरीत होगी।" कुछ पादरियों ने तो इतना तक कहा कि प्रत्येक क्रिश्चियन

समाजवादी होना ही चाहिए। उस समय, समाजवादी का तात्पर्य थोड़ा सीमित अर्थ में किया जाता था।

धीरे-धीरे आन्दोलन जोर पकड़ता गया, कुछ और शिक्षित व्यक्ति इस आन्दोलन में आगे आये। लगभग बीस वर्ष तक निरन्तर प्रयत्न करते रहने के उपरान्त श्रमिकों की दशा में कुछ सामान्य सुधार होने आरम्भ हुए। यह आन्दोलन इंग्लैंड के बाहर स्काटलैंड और फ्रांस आदि देशों में भी फैलने लगा। राबर्ट ओवन के ही एक शिष्य ने स्काटलैंड के आर-बिस्टन नगर में एक बहुत बड़ा भवन तैयार किया, जिसमें सैकड़ों व्यक्ति, जो ओवन के विचारों से सहमत थे, आकर रहने लगे। उन लोगों ने सामुदायिक रहन-सहन के जीवन को अपनाया। अपनी-अपनी इच्छानुसार प्रत्येक व्यक्ति भिन्न पेशा करता था। उन लोगों ने कुछ और भी कारखाने चलाये, जिनमें लोहे की ढलाई आदि का काम होता था। इसके अतिरिक्त हेमशायर अदि दूसरे स्थानों में भी इसी प्रकार के कुछ प्रयोग किये गये। कुछ प्रयोग असफल हुए, जिनसे ओवन और उनके साथियों को कुछ निराशा-सी हुई और उन्हें एक बार फिर अपनी योजनाओं पर पुनः विचार करना पड़ा।

मनुष्य के अन्दर धन-संग्रह और लाभोपार्जन की जो लिप्सा जन्म से ही उत्पन्न हो जाती है, वही वास्तव में सारे दोषों का कारण बनती है। समाज में जो द्रव्य मुद्रा एक बार प्रसारित की जाती है, वह चक्कर काटकर समाज के कुछ इने-गिने व्यक्तियों के पास इकट्ठा हो जाती है, जो समाज में साधन सम्पन्न कहलाने लगते हैं। वास्तव में अर्हा (value) श्रम की होनी चाहिये, किन्तु इन साधन सम्पन्न कुछ व्यक्तियों के द्वारा समाज में जो प्रथायें चलाई जाती हैं, उनमें श्रमिक सारे दिन काम

करने के बाद भी मुश्किल से उदर-पूर्ति के लिये सामान्य भोजन भर जुटा पाता है, जबकि वे व्यक्ति जो श्रम नहीं करते, अपनी पूंजी के बल पर व्याज और लाभ आदि की इतनी अतुल राशियां प्राप्त करते चले जाते हैं कि दिनोंदिन लखपति से करोड़पति और अरबपति बनते चले जाते हैं।

ऐसी विषम परिस्थितयों में प्रत्येक समाज सुधारक के सामने समान कठिनाइयां उपस्थित होती हैं। राबर्ट ओवन ने अपनी श्रमिक बस्ती में अलग से ही नोट्स (notes) चलाने शुरू कर दिए थे, जो कि श्रमिकों को उनके श्रम के लिए प्रदान किये जाते थे, और श्रमिक बस्ती की सरकारी दूकानों पर मान्य होते थे। इन नोटों (notes) से कोई सामान श्रमिक अपनी बस्ती में खरीद सकते थे। वस्तुओं के मूल्यों को श्रम के साथ संबंधित करने का प्रयास किया गया था। लन्दन में नेशनल इक्वीटेबल लेबर एक्सचेन्ज (national equitable labour exchange) स्थापित की गई, जहां वस्तु उत्पादन करने वाले श्रमिक अपनी उत्पादित वस्तुएं जमा कर देते थे और उसके बदले में उन्हें श्रमिक नोट्स (notes) प्रतिफल स्वरूप प्राप्त हो जाते थे। इन श्रमिक नोटों से वे अपने दैनिक उपभोग की वस्तुएं इच्छानुसार लेबर एक्सचेन्ज से खरीद सकते थे। ये लेबर एक्सचेन्ज (labour exchange) भविष्य में सहकारी भण्डार कहलाए, जो कि आज मानवीय कल्याण के क्षेत्र में ब्रिटेन जैसे पूंजीवादी देश में भी लाखों सामान्य परिवारों की भलाई कर रहे हैं। राबर्ट अवोन को अपने इस नये अनुसंधान के ऊपर कोई विशेष गर्व नहीं था, क्योंकि वह तो राष्ट्र के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन में सहकारिता के सिद्धान्तों को फलते-फूलते देखना चाहता था "उसे उपभोक्ता भण्डारों का जन्मदाता न कहकर यह कहा जाय कि समाज की आर्थिक विषमता की खाई को, प्रत्येक

क्षेत्र से निकाल कर वह सर्वत्र सहकारिता आन्दोलन का बोल-बाला चाहता था।"

श्रमिक संघों का विकास

मानवीय कल्याण के इच्छुक हितैषी जनों के प्रयास से श्रमिकों के बीच जागृति होने लगी। उन्होंने श्रमिक संघ बनाने शुरू किये तथा अपनी सामूहिक शक्ति का कुछ बोध होने लगा। सुसंगठित श्रमिक संघों के निर्माण होने से वर्तमान श्रमिक संघ आन्दोलन की नींव पड़ी। इन श्रमिक संघों ने भी श्रमिकों को आर्थिक क्षेत्र में, वेतन वृद्धि, काम करने के घंटों में कमी तथा कार्य करने की स्वच्छ स्थलीय सुविधाएं आदि दिलाने में बहुत सहायता दी। वेतनों में अभिवृद्धि होने से श्रमिकों को कोई वास्तविक लाभ नहीं होने वाला था, जब तक कि उन्हें उनके रुपयों की वस्तुओं के रूप में उचित मात्रा प्राप्त न हो। इस उद्देश्य से उन मध्यम पूंजी-पतियों को जीवनोपयोगी वस्तुओं के वितरण क्षेत्र से निर्मूल कर देना जरूरी था। इसके लिए सहकारी भण्डार स्थापित किये गए। इन भण्डारों का क्षेत्र दिनोंदिन विस्तृत होता चला गया। मानव समाज की वास्तविक सेवा थी, इसलिए इन संस्थाओं के प्रख्यात होने में कोई समय नहीं लगा। इस प्रकार श्रमिक समाज को और अधिक कार्य-क्षेत्र बढ़ाने के लिये साहस हुआ। उन्होंने अपने सामान्य साधनों को एकत्रित करके वस्तुएं निर्माण करने की योजनाएं भी तैयार कीं और धीरे-धीरे उत्पादन-क्षेत्र में भी उन्हें सफलता मिलने लगी। इस सफलता के दो कारण थे—श्रमिक इन मिलों को, जो कि सहकारी उत्पादन समितियों द्वारा संचालित की जाती थीं, अपनी मिलें मानकर कार्य करते थे, जिससे उत्पादन अधिक, सयन्त्रों का क्षय कम और पूंजी पर प्रत्यय उचित प्राप्त होती थी। पूंजी योगदान देने

वाले स्वयं श्रमिक होते थे। इस प्रकार वेतन से अतिरिक्त उनको जो आर्थिक लाभ होता था, उससे उनकी आर्थिक दशा भी दिनों-दिन सुधरती गई। इसके अतिरिक्त इन सहकारी उपक्रमों को अपनी उत्पादित वस्तुएं विक्रय करने में लेश मात्र भी कठिनाई नहीं उठानी पड़ती थी, क्योंकि उनके निजी सहकारी भंडार पहले से ही कार्य करते चले आ रहे थे और वहां से वस्तुएं हाथोंहाथ बिकती चली जाती थीं। इसके विपरीत पूंजीपतियों की मिलों को अपनी उत्पादित वस्तुओं को विक्रय करने के लिये काफी रुपया विज्ञापन आदि पर खर्च करना पड़ता था, जिससे उत्पादन आदि में अनावश्यक अभिवृद्धि होती थी। समाज में सामान्य व्यक्तियों की, विशेष रूप से श्रमिकों की, संख्या इंग्लैंड में बहुत ज्यादा थी। श्रमिक स्वभावतः श्रम दल द्वारा संचालित उपक्रमों की उत्पादित वस्तुओं को पूंजीपतियों की मिलों की अपेक्षा प्राथमिकता प्रदान करते थे। इस प्रकार सहकारिता, उपभोक्ता-क्षेत्र, उत्पादन-क्षेत्र, वितरण-क्षेत्र और लेबर नोटों (labour notes) के रूप में विनिमय-क्षेत्र में पदार्पण कर गई।

श्रमिक संघों का राजनीति में भाग

धीरे-धीरे श्रमिक संघ इंग्लैंड में काफी ज़ोर पकड़ते जा रहे थे। इंग्लैंड में उस समय अनुदार और उदार दो दल राजनैतिक क्षेत्र में भाग ले रहे थे। श्रमिक संघों ने भी जब थोड़ा प्रभाव जमा लिया, तो उन्हें भी यह अनुभव हुआ कि जब तक संसद में श्रमिकों के प्रतिनिधि न पहुँचेंगे, तब तक उनका भविष्य उज्ज्वल नहीं है, इसलिये राजनीति के क्षेत्र में भाग लेने के लिये श्रमदल (Labour Party) का जन्म हुआ। उदार और अनुदार दोनों दलों के बीच, इस दल के भविष्य के बारे में किसी ने कभी कल्पना न की थी कि यह श्रमदल भी राजसत्ता संचालन

करने में सफल हो सकेगा। इस दल ने प्रथम महायुद्ध के बाद और पुनः द्वितीय महायुद्ध के बाद इंग्लैंड की राजसत्ता को बड़ी बुद्धिमानी के साथ संचालित किया है। यद्यपि ब्रिटेन आज भी पूंजीवाद का गढ़ है, लेकिन सहकारिता आन्दोलन के आधार पर अवलम्बित श्रमिक संघ के अनुयायी श्रम दलीय प्रतिनिधि ब्रिटेन की संसद में अनुदार दल की सरकार से बड़ी योग्यता और क्षमता के साथ मोर्चा लेते हैं। उदार दल आज लगभग समाप्त-सा हो चला है। उसके अनुयायी ब्रिटेन में कुछ थोड़े लोग ही रह गए हैं। सहकारिता आन्दोलन यद्यपि किसी एक राजनैतिक दल विशेष का आन्दोलन नहीं है, लेकिन फिर भी ब्रिटेन के १५० वर्ष के आर्थिक इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि सहकारिता आन्दोलन का व्यापक स्वरूप केवल श्रमदल के संरक्षण में ही राजनैतिक संरक्षण पा सका और उसी के कारण लहलहाता हुआ सामान्य जनता की सेवाएं कर रहा है।

: ५ :

भारत में सहकारिता का प्रादुर्भाव एवं विकास
(Origin and Development of Co-operative Movement in India)

भारतवर्ष में कृषकों की दशा गत दो शताब्दियों में बहुत ही दयनीय रही है। समय-समय पर देश में खाद्यान्न की कमी के कारण अथवा अतिवर्षा या वर्षा की कमी के कारण फसलों को नुकसान पहुंचता रहा है, जोकि कृषकों को अन्नाभाव की स्थिति में डालता रहा है। कुछ धनवान व्यक्तियों ने इन गरीब किसानों को ऋण देकर उन्हें ऋण-भार से वंश परम्परागत ऋणी बना दिया। सन् १८७८ में बम्बई प्रान्त में पूना के आसपास के क्षेत्रों के किसानों ने इस प्रकार की व्यक्तिगत ऋण प्रणाली के कष्टों से उत्पीड़ित होकर विद्रोह कर दिया। बम्बई सरकार द्वारा नियुक्त जांच समिति (enquiry committee) ने विद्रोह का मूल कारण ग्रामीण ऋण निर्धारित किया था। इस समिति की सिफारिश पर बम्बई सरकार को दक्षिण सहाय अधिनियम (South Relief Act) स्वीकार करके किसानों की सहायता करनी पड़ी।

इसके विपरीत उस समय की कृषिज अवस्था और कृषकों की ऋण-भार पीड़ित दुर्दशा दिनोंदिन विषम रूप धारण करती चली जा रही थी, इसलिए सन १८८२ में सर विलियम वेडर बर्न (Sir William Weder Burn) और न्यायाधीश रानाडे (Justice Ranade) ने ग्रामीण ऋण समस्या का अनुसंधानात्मक अध्ययन

किया और कृषकों को ऋण प्रदान करने के लिए कृषिज अधिकोष स्थापित करने की एक योजना तैयार की। उनकी योजना का सारांश इस प्रकार था। सरकार एक-एक तालुका (जिला) क्रमशः ले और उसके अन्दर बसनेवाले प्रत्येक कृषक के सम्पूर्ण ऋण को शोधन कर दे। यह ऋण शोधन उस तालुके में स्थापित राजकीय कृषिज अधिकोष द्वारा किया जाय, अर्थात् कृषकों के ऋण कृषिज अधिकोष अपने ऊपर ले ले और प्रति वर्ष उचित प्रभागों में कृषकों से उचित ब्याज सहित प्राप्त करता रहे। उपरोक्त सिफारिश केंद्रीय सरकार को पूर्णतः मान्य न थी, किन्तु आंशिक रूप में विशेषकर सैद्धांतिक दृष्टिकोण से कोई मतभेद नहीं था। इसलिए उनकी योजना के मूल सिद्धांत भूमि सुधार ऋण अधिनियम (Land Improvement Loans Act 1883) तथा कृषक ऋण अधिनियम (Agriculturists Loans Act 1884) के रूप में केन्द्रीय सरकार ने स्वीकृत किये। इन दो अधिनियमों के अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों को उचित सूद पर ऋण प्रदान करने का अधिकार प्राप्त हो गया। इन अधिनियमों के अन्तर्गत कृषकों को बहुधा उत्पादन-कार्यों के लिए ऋण प्रदान किये जाते हैं, जिन्हें तकावी ऋण कहते हैं। तकावी ऋण कृषकों में अधिक प्रचलित न हो पाये। इनकी प्राप्ति में बहुधा कृषक को अनेकानेक पेचीदा कार्यवाहियां करनी पड़ती हैं, जो कि सामान्यतया भारतवर्ष के अशिक्षित कृषक के लिये पूर्ण कर सकना कठिन है। इसके अतिरिक्त पदाधिकारियों की उच्छृंखलता (high handedness) और ऋण संग्रहित करने की दोषयुक्त पद्धतियां, उनके प्रचलित होने में बाधक सिद्ध हुईं।

सन् १८९२ में मद्रास सरकार की ओर से सर फ्रेडरिक निकोल्सन (Sir Frederic Necholson) को कृषि अधिकोष की योजना तैयार करने के लिए नियुक्त किया गया। १८९९ में निको-

ल्सन द्वारा प्रेषित प्रतिवेदन पर मद्रास सरकार ने विचार किया। इस प्रतिवेदन में रेफिसन पद्धति की प्रत्यय समितियां संस्थापित करने की सिफारिश की गई थी। बाद में यह प्रतिवेदन केन्द्रीय सरकार के विचारार्थ भेज दिया गया। इन्हीं दिनों में संयुक्त प्रान्त की सरकार ने श्री ड्यूपरनेक्स (Shri Dupernex) को राज्य की कृषि समस्याओं का अध्ययन और कृषिज ऋण-भार के कम करने की उचित योजना बनाने के लिए नियुक्त किया। श्री ड्यूपरनेक्स ने तत्कालीन परिस्थितियों का अध्ययन करके अपनी योजना एक पुस्तक-रूप में 'जन-अधिकोष' (People's Bank) शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित की।

अब केन्द्रीय सरकार के समक्ष इस प्रकार वैडर वर्न कमेटी रिपोर्ट, सर फ्रेडरिको निकल्सन (मद्रास) की रिपोर्ट और श्री ड्यूपरनेक्स की रिपोर्ट विचारार्थ उपलब्ध थीं। केन्द्रीय सरकार ने सर एडवर्ड लॉ (Sir Edward Law), जो कि तत्कालीन भारत सरकार के अर्थ-सचिव (Finance Secretary) थे, के सभापतित्व में एक समिति नियुक्त की। यह समिति भविष्य में लॉ समिति के नाम से प्रसिद्ध हुई। सन् १९०१ में भारतीय दुर्भिक्ष आयोग ने भी कृषिज अधिकोषों की स्थापना शीघ्रातिशीघ्र करने की सिफारिश की। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त लॉ समिति (Law Committee) के समक्ष, भारतीय कृषकों को तत्कालीन ऋण-भार तथा अन्य कृषिज अर्थ आयोजन व्यवस्था आदि की समस्याओं के सुलझाने का देशव्यापी प्रश्न उपस्थित था। इस समिति की सिफारिशों के अनुसार धारा-परिषद् में एक विधेयक (bill) प्रस्तुत किया गया, जो कि आगे चलकर सहकारी प्रत्यय समिति अधिनियम सन् १९०४ के रूप में स्वीकृत हुआ। इस प्रकार

२५ मार्च १९०४ से भारतवर्ष में सहकारिता आन्दोलन का श्री गणेश हुआ।

सहकारिता प्रत्यय समितियां अधिनियम के मूल तत्व

(Main provisions of Co-operative Credit Societies Act of 1904)

सन् १९०४ के अधिनियम के अन्तर्गत निम्नलिखित मूल तत्व थे :—

१. एक ही ग्राम अथवा नगर में रहनेवाले समान वर्ग या व्यवसाय के कोई भी १० व्यक्ति सहकारी समिति का निर्माण कर सकते थे।

२. इन समितियों का उद्देश्य सदस्यों में मितव्ययता (thrift) और स्वावलम्बन के उच्च आदर्शों की अभिवृद्धि करना होना चाहिए।

३. इन समितियों के पास सदस्यों द्वारा निक्षेप (deposits) रखना और सदस्यों से, सरकार से और दूसरी सरकारी संस्थाओं से ऋण प्राप्त करना और सदस्यों को उनकी जरूरतों के लिये ऋण देना मुख्य कार्य था।

४. प्रत्येक राज्य सरकार को पंजीयक (registrars) नियुक्त करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया था। इन पंजीयकों का कार्य सहकारी समितियों का संगठन व निरीक्षण करना था।

५. प्रत्येक सहकारी समिति की लेखा-पुस्तकों का वार्षिक अंकेक्षण (audit) पंजीयक द्वारा नियुक्त कर्मचारियों द्वारा निःशुल्क किया जाना अनिवार्य था।

६. सहकारी समितियों को ग्रामीण व नागरिक दो वर्गों में विभक्त कर दिया गया था। ग्रामीण समितियों में कम से कम ४–५ संख्या कृषक सदस्यों की होनी चाहिए।

७. ग्रामीण समितियां लाभांश-वितरण नहीं कर सकती थीं। उनका उपार्जित लाभ अभिमान्य संचय प्रणिवि (indivisible reserve fund) में स्थानान्तरित कर दिया जाता था।

८. प्रत्येक ग्रामीण समिति के सदस्य का दायित्व असीमित होता था।

९. नगर समितियों में सदस्यों का दायित्व सीमित और असीमित कोई भी हो सकता था, किन्तु इसका उल्लेख पंजीयन कराते समय ही कर दिया जाता था।

१०. नगर समितियों में उपार्जित लाभ के चौथाई भाग को संचिति प्रणीवि में स्थानान्तरित करने के उपरान्त, शेष लाभांश रूप में वितरित किया जाता था।

११. इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी समितियां, आय कर, प्रेषकर (stamp duty) और पंजीयन शुल्क आदि से मुक्त थीं।

अधिनियम के दोष

इस अधिनियम के स्वीकृत किये जाने के कुछ काल ही बाद इसके कुछ प्रमुख दोष व्यक्त होने लगे। उन प्रमुख दोषों के विषय में यहां उल्लेख किया जा रहा है:—

१. इस नियम के अन्तर्गत प्रत्यय समितियों के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की समिति के लिए संरक्षण नहीं था।

२. इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय संस्थायें, उदाहरणार्थ केंद्रीय अधिकोष, सहकारी संघ आदि के संस्थापित किए जाने का कोई आयोजन नहीं था।

३. जिन प्रदेशों में सहकारी प्रत्यय समितियों को ग्रामों में पर्याप्त पूंजी प्राप्त हो गई थी, वहां उपार्जित लाभ को लाभांश रूप में विभाजित कर सकने पर अधिनियम के अन्तर्गत विभाजित करने के कारण जटिल समस्या उपस्थित हो गई थी।

४. समितियों का ग्रामीण व नागरिक दो वर्गों में विभाजन किसी भी वैज्ञानिक आधार पर उचित नहीं था। इस वर्गीकरण के कारण बहुत असुविधा होती थी। सहकारिता के विकास में वह बहुत बाधक सिद्ध हुआ।

सन् १९०४ के अधिनियम के स्वीकृत किये जाने पर प्रांतीय सरकारों ने सहकारी समितियों के संगठन व निरीक्षण के लिये अधिनियम के नियमानुसार पंजीयकों की नियुक्तियाँ कर दीं। प्रत्यय समितियों की संख्या इस अधिनियम के स्वीकृत किए जाने के उपरांत काफ़ी तेजी के साथ बढ़ती चली गई, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट हो जायेगा।

प्रगति तालिका

वर्ष	समितियों की संख्या (हजारों में)	सदस्यों की संख्या (लाखों में)	कार्यवाहक पूंजी (लाखों में)
१	२	३	४
१९०६-७	.८	.९	२०
१९०७-८	१.३	१.४	४०
१९०८-९	१.९	१.८	८०
१९०९-१०	३.४	२.२	१२०
१९१०-११	५.३	३.०	२००
१९११-१२	८.१	४.०	३३०

• बिन्दी दशमलव व्यक्त करती हैं।

सन् १९१२ के अधिनियम की विशेषताएं

गत पृष्ठ पर वर्णित दोषों के कारण सन् १९०४ के अधिनियम में संशोधन करना नितान्त आवश्यक हो गया। इसलिए सन् १९१२ में एक विस्तृत अधिनियम "सहकारी समितियां अधिनियम १९१२" स्वीकृत किया गया। इस अधिनियम की मुख्य मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित थीं:—

१. इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्यय समितियों के अतिरिक्त अप्रत्यय (गैर साख) समितियों का निर्माण संभव हो सका।

२. सहकारी समितियों के उद्देश्य, विशेष रूप से संशोधित शब्दावली द्वारा व्यक्त किये गये।

३. इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय संस्थाएं— उदाहरणार्थ– केन्द्रीय अधिकोष, सहकारी संघ आदि भी सीमित दायित्व पर निर्मित किये जाने लगे।

४. समितियों का वर्गीकरण सुचारु रूप से संशोधित कर दिया गया। वर्गीकरण का आधार समितियों के दायित्व पर अवलंबित किया गया। प्रथम वर्ग में सीमिति दायित्व समितियां और द्वितीय वर्ग में असीमित दायित्व समितियां रखी गईं।

५. प्रान्तीय सरकारों को इस बात का अधिकार दे दिया गया कि यदि वे चाहें, तो समितियों के लाभ आदि के वितरण संबंधी नियमों व उपनियमों में परिवर्तन कर सकती थीं।

६. सहकारी समितियों को सार्वजनिक कार्यों के लिए दान आदि देने का आयोजन भी इस अधिनियम के अन्तर्गत कर दिया गया।

७. इस अधिनियम के अन्तर्गत उन संस्थाओं को समिति (society) शब्द प्रयोग करने का प्रतिबन्ध लगा दिया गया, जो सहकारिता के सिद्धांतों के अनुसार नहीं थीं।

१९१२ के अधिनियम के बाद सहकारिता का विकास

सन १९१२ के अधिनियम के स्वीकृत किये जाने से अनेकों कठिनाइयां, जो सहकारिता के क्षेत्र में बाधक सिद्ध हो रहीं थीं, दूर हो गईं। इससे सहकारिता का विकास तेजी के साथ होने लगा। दिनोंदिन सहकारिता की समस्यायें जटिल होती जा रहीं थीं, क्योंकि उपरोक्त अधिनियम ने विभिन्न व्यावसायिक क्षेत्रों में सहकारिता के सिद्धांतों का प्रयोग संभव बना दिया था। दो वर्ष के कार्यकाल में ही सरकार को यह अनुभव होने लगा कि सहकारिता के विकास की स्थिति ज्ञात कर ली जाय। इसलिये वस्तु-स्थिति को वास्तविक रूप में जांच करने के लिए सर एडवर्ड मेकलेगन (Sir Edward Maclegan) की अध्यक्षता में एक समिति (committee) नियुक्त की गई।

मेकलेगन कमेटी की रिपोर्ट सहकारिता के विकास के विषय में अपना अनमोल महत्व रखती है। विशेष रूप से ग्रामीण प्रत्यय समितियों की दोषयुक्त प्रणालियों के विषय में इस कमेटी ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे बहुत ही सराहनीय हैं। आज भी उनका महत्व कम नहीं हुआ है। भारतीय सरकार ने यद्यपि इस कमेटी की सभी सिफारिशें स्वीकार नहीं कीं, जिसके लिये कुछ योग्य लेखकों ने तत्कालीन सरकार की अदूरदर्शिता पर खेद प्रगट किया है। इस कमेटी के इस प्रस्ताव को, कि सहकारिता प्रान्तीय विषय बना दिया जाय, स्वीकार कर लिया गया। सन १९१९ के उपरान्त भारतीय शासन विधान में जो शासन सुधार किये (मान्टेग्यू चेम्सफोर्ड के अनुसार) गये, उनके अनुसार सहकारिता को प्रान्तीय क्षेत्र में स्थानान्तरित कर दिया गया।

मेकलेगन कमेटी के प्रमुख निष्कर्ष व सिफारिशें

(Main conclusions & rccommendations of the Maclegan Committee)

इस समिति ने वस्तुस्थिति का बहुत ही गहनतम अध्ययन किया और निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुँची:—

१. जन समाज, सहकारिता आन्दोलन को राजकीय अभिकर्त्तृत्व समझती है; उसे जन-उपयोगी विभाग बनाने की यथा शक्ति कोशिश की जानी चाहिये।

२. ग्रामीण समाज में ग्राम्य समितियों के लिये असीमित दायित्व को निस्संकोच स्वीकार कर लिया गया है।

३. कृषिगत समितियों में निक्षेप राशियों की मात्रा कोई विशेष उल्लेखनीय नहीं है।

उपरोक्त परिस्थितियों में कुछ विशेष उत्साह पैदा करने के लिये इस कमेटी ने निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत की हैं:—

१. समितियों के वर्गीकरण पर पुनः विचार कर लिया जाय। दिनोंदिन बढ़ती हुई सहकारिता की विभिन्न रूपता व जटिलता का समावेश करने के उद्देश्य से कमेटी ने यह वर्गीकरण प्रस्तावित किया।

(अ) प्रारम्भिक समिति (ब) सहकारी संघ
(स) केंद्रीय सहकारी अधिकोष
(द) प्रांतीय सहकारी अधिकोष

२. इस कमेटी के विचार में सहकारी समितियों के बीच सहयोग की भावना जागृत करने के लिये और उचित निरीक्षण रखने के लिये सहकारी संघ संस्थाएं (Co-operative

Federations) की नितान्त आवश्यकता थी। इसलिये कमेटी ने यह सिफारिश की कि प्रारम्भिक समितियों का निरीक्षण प्रत्याभूति-संघ (Guaranteed Unions) करें और प्रत्याभूति संघों का निरीक्षण केंद्रीय संघ करें तथा इनका सम्पर्क प्रान्तीय सहकारी अधिकोष से स्थापित किया जाना चाहिये।

३. प्रान्तीय सरकारों के विभिन्न जनोपयोगी तथा विकास कार्य करने वाले सभी विभागों के बीच सह-सम्पर्क स्थापित किया जाय, जिससे अर्थ–शक्ति और समय का दुरुपयोग न हो।

४. अशिक्षित और अज्ञानी मनुष्य सहकारिता के विकास में बहुधा बाधक सिद्ध होते हैं, इसलिये शिक्षा-प्रसार और सहकारिता के सिद्धांतों के प्रचार की उपयुक्त व्यवस्था की जाय।

५. सहकारी समितियों का पथ-प्रदर्शक सिद्धांत सचाई होना चाहिये। प्रत्येक समिति के सदस्य को सचाई और विश्वास के साथ कार्य करने की क्षमता होनी चाहिये। उन्हें समाज के प्रति अपने कर्त्तव्य निभाने चाहिये।

६. सट्टा व्यवहारों के लिये समितियों द्वारा सदस्यों को कोई ऋण प्रदान न किया जाय। ऋण आवेदन-पत्रों की जांच इस विषय में काफी ध्यानपूर्वक की जाय कि किस उद्देश्य के लिये ऋण लिया जा रहा है।

७. ऋण प्रदान करने में कदापि देरी न की जाय। यदि किसी आवेदन-पत्र को अस्वीकार करना है, तो उस पर निर्णय उचित अवधि के भीतर दे देना चाहिये।

८. ऋण स्वीकृत किये जाने के उपरान्त, राशि उसी उद्देश्य पर व्यय की जा रही है जिसके लिये आवेदन-पत्र में मांग

की गई थी, इस दिशा में उचित निरीक्षण करने की आवश्यकता है, क्योंकि किसान अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण-राशियों का प्रयोग करते हैं।

९. समिति के सदस्यों के हाथ में ही उसकी सुव्यवस्था व सर्वाधिकार नियत रहने चाहिये। प्रत्येक सदस्य को केवल एक ही मत प्रदान का अधिकार होना चाहिये।

१०. प्रत्येक समिति को, पर्याप्त संचिति प्रणीवि स्थापित करनी चाहिये।

११. सदस्यों को राशियां संचय करने की प्रेरणा दी जाय।

१२. संचित राशियों को सदस्यगण समितियों के पास निक्षेप रखें।

मेरे विचार में, मेक्लेगन कमेटी ने जो सिफारिशें प्रस्तुत कीं, वे भावी पीढ़ियों के लिये पथ-प्रदर्शक सिद्ध हो रही हैं और आज भी सहकारिता के क्षेत्र में नीति निर्धारित करते समय उन अटल सिद्धांतों को नहीं भुलाया जा सकता, जो कि उस समिति ने अपने परिवेक्षण में निष्कर्ष स्वरूप निकाले थे। इस कमेटी ने सहकारिता के विकास को स्वाभाविक विकास की ओर लाने के लिये बड़े उत्तम विचार व्यक्त किये हैं।

सन १९१२ से सन १९१९ तक के कार्यकाल में सहकारिता समितियों के विकास में आश्चर्यजनक प्रगति हुई। इसका एक कारण सन् १९१२ का संशोधित अधिनियम था और द्वितीय कारण सन् १९१४ में प्रारम्भ हुआ प्रथम महायुद्ध, जो कि सन् १९१८ में समाप्त हुआ।

"सहकारिता स्पष्टतया मध्यवर्ग के व्यक्तियों से दिनोंदिन अधिक सम्बद्ध होती चली जा रही थी और ग्रामीण तथा औद्योगिक, दोनों क्षेत्रों में अग्रसर हो रही थी। युद्धकालीन परिस्थितियों के प्रभाव से राज्यों ने भी विपणन और खाद्यान्नों

के मूल्य निर्धारण में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था "†

निम्नप्रदर्शित तालिका से उपरोक्त कथन की सत्यता और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है।

वर्ष	समितियों की संख्या (हजार में)	सदस्यों की संख्या (दस हजार में)	कार्यवाहक पूंजी (लाख में)
१९१०–११ से १९१४–१५ तक की औसत	१२	५५	५४८
१९१५–१६ से १९१९–२० तक की औसत	२८	११३	१५१८

युद्धकालीन विकास कुछ स्थायी सिद्ध नहीं हुआ और उन असाधारण परिस्थितियों में सहकारिता के क्षेत्र में सरकारों ने जो विपणन व वस्तु मूल्य निर्धारण में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था, अनुचित सिद्ध हुआ। भारतवर्ष की परिस्थितियां अन्य विकसित देशों की अपेक्षा सदैव कुछ भिन्न रही हैं। इनकी पृष्ठभूमि में हमारे देश के सामाजिक रीति-रिवाज और सभ्यता रही है, जो कि पश्चिमी देशों से भिन्न है।

राजकीय कृषि आयोग (Royal Commission on Agriculture) ने भारत की कृषि समस्याओं का अध्ययन करते हुए सहकारिता का महत्व हमारे देश के ग्रामीणों के जीवन में महत्वपूर्ण बतलाया है। उन्हीं के शब्दों में—

† "Co-operation at Home and Abroad" by C.R. Fay Page 4.

"यदि भारतवर्ष में सहकारिता असफल हो जाती है, तो ग्रामीण भारत की अन्तिम आशारेखा भी समाप्त हो जायेगी।‡

उपर्युक्त कथन की सत्यता में तनिक भी संदेह नहीं है, किन्तु सहकारिता भारतवर्ष में कोई आश्चर्यजनक प्रगति कर पाई हो, ऐसी कल्पना कर बैठना निराधार और भ्रमात्मक होगा। तत्कालीन परिस्थितियों में इस जनोपयोगी विभाग की प्रगति में सबसे अधिक बाधक सिद्ध होनेवाला कारण भारतवर्ष में विदेशी शासन का होना था, जिसकी आर्थिक और औद्योगिक नीति सदैव अपनी मातृभूमि ब्रिटेन के हित में रहती थी।

प्रथम महायुद्ध के बाद सहकारिता का विकास

(Progress of Co-operative Movement after First World War)

सन् १९१९ में भारत की शासन प्रणाली में मान्टेग्यू चैम्सफोर्ड सुधार कार्यान्वित किये गए, जिसके फलस्वरूप सहकारिता प्रान्तीय विषय बन गया। प्रान्तीय सरकारों को अपने-अपने प्रान्त की परिस्थितियों के अनुकूल सहकारिता आन्दोलन संचालित करने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त हो गई। इसलिए कुछ प्रान्तों ने अपने निज के सहकारिता संबंधी परिवर्तित अधिनियम स्वीकृत किए।

सर्वप्रथम, बम्बई प्रान्त में १९२५ में, सहकारिता संबंधी संशोधित अधिनियम स्वीकृत किया गया। इस अधिनियम के

---

‡ Report of the Royal Commission on Agriculture in India. Page 450.

द्वारा सहकारिता का क्षेत्र और भी अधिक व्यापक बना दिया गया। सहकारिता अधिनियम के आमुख में तीन मुख्य उद्देश्य व्यक्त किये गये हैं।

१. उत्तम रहन-सहन (better living)
२. उत्तम व्यवसाय (better business)
३. उत्तम उत्पादन (better production)

इसके अतिरिक्त सहकारिता समितियों का वर्गीकरण भी सन् १९१२ वाले सहकारिता अधिनियम से विभिन्न स्वीकृत किया गया। वर्गीकरण का आधार समितियों के उद्देश्यों पर निर्भर रखा गया। पंजीयक (registrar) को पहले से अधिक अधिकार इस अधिनियम के अन्तर्गत प्रदान किये गये। अधिनियम की धाराओं के उल्लंघन करने पर दण्ड की व्यवस्था कर दी गई।

मद्रास प्रान्त ने भी बम्बई प्रान्त का अनुसरण किया और सन १९३२ में सहकारिता सम्बन्धी अधिनियम स्वीकार किया। इसी अधिनियम के अन्तर्गत पंजीयक (registrar) को पर्याप्त अधिकार दिये गये। इन अधिकारों के द्वारा पंजीयक सहकारिता समिति की व्यवस्थापिका को स्थगित (suspend) कर सकता था और उसके स्थान पर प्रबन्धक नियुक्त कर सकता था। इसी अधिनियम के अन्तर्गत समिति का दायित्व भी परिवर्तित किया जा सकता था, यदि पंजीयक (registrar) उस समिति की प्रगति से संतुष्ट हो। समितियों के ऋण आदि को, अवधि समाप्ति के उपरान्त वसूली करने की नई व्यवस्था भी की गई थी। झगड़ों के पारस्परिक निपटारे की भी व्यवस्था पंच-फैसले द्वारा इस अधिनियम में की गई थी। पंजीयक को उन व्यक्तियों के आचरण आदि के विषय में जांच करने का अधिकार था, जो किसी सहकारी समिति से सम्बन्धित थे और अच्छी

व्यक्तिगत सम्पत्ति को उधारी वसूली के लिये वह (attach) कर सकता था। दुरुपयोग तथा गबन (misappropriation embezzlement) आदि आदि के मामलों में पंजीयक को पूरा विवरण ज्ञात करने और उचित कार्यवाही करने का भी अधिकार प्राप्त था।

इसके अतिरिक्त कुछ प्रान्तों ने वस्तुस्थिति ज्ञात करने के लिये अपने प्रान्तों में जांच कमेटियां नियुक्त कीं। उत्तर प्रदेश में ओक्डन कमेटी (Okden Committee) और मद्रास में टाउन्स एण्ड कमेटी (Towns end Committee) और ब्रह्मा में, जो कि उस समय भारत का ही एक अंग था, कलवर्ट (Calvert Committee) नियुक्त की गई। इन कमेटियों ने अपने-अपने प्रान्तीय क्षेत्र में, परिस्थितियों के अनुसार, सहकारिता के विकास के लिये उचित सुझाव दिए। ब्रह्मा आज एक अलग से स्वतंत्र देश है और उसने कामनवेल्थ की सदस्यता भी ग्रहण नहीं की है। वहां के सहकारिता आन्दोलन का विकास इस कारण भारतवर्ष के सहकारी आन्दोलन के साथ-साथ सम्मिलित नहीं किया गया है। भारतवर्ष के जो प्रान्त, विभाजन के उपरान्त १५ अगस्त १९४७ से एक विभिन्न देश "पाकिस्तान" के अंग बन गये हैं, उनका वर्णन भी भारतीय राज्यों के साथ-साथ नहीं दिया गया है।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त से, सहकारिता आन्दोलन के दृष्टिकोण में नवीन परिवर्तन हुआ है। इस काल में इसकी प्रगति बहुत अधिक हुई है। इसके दो कारण हैं —

१. द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त, निर्मा एवं पुनर्स्था पन आदि कार्यों के लिये सहकारिता को नवीन क्षेत्र प्राप्त हुआ।

२. स्वतंत्रता-प्राप्ति से राष्ट्रीय सरकारों का सहयोग मिलना स्वाभाविक ही था। हमारे विधान में भी भावी लक्ष्य "सहकारी कामनवैल्थ" (Co-operative Commonwealth) रखा गया है।

निम्नलिखित तालिका से इस काल की प्रगति का स्पष्ट रूप से बोध हो जाता है:—

सहकारिता आन्दोलन की प्रगति की तालिका

वर्ष	सहकारी समितियों की संख्या (लाख में)	सदस्य संख्या (लाख में)	कार्यवाहक पूंजी (लाख में)
१९४१–४५ (औसत के आधार पर)	१.५०	७२.१८	१,२४,३५
१९४६-५० ,,	१.६०	१०७.२८	१,८८,७३
१९५०–५१ ,,	१.८१	१३७.१५	२,७५,८५
१९५१–५२ ,,	१.८५	१३७.९१	३,०५,८९

सहकारिता के विकास-काल का विभाजन

सहकारिता आन्दोलन के उदय से आज तक के विकास काल को पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं।

१. १९०१ से १९१४ तक
२. १९१५ से १९२४ तक
३. १९२५ से १९४० तक

४. १९४१ से १९४६ तक
५. १९४७ से १९५४ (आज तक)

१. *१९०१ से १९१४ तक प्रथम चरण:* इस अवधि में सहकारिता के प्रारम्भ किये जाने के लिये अनेक प्रयोग किये गये। कृषिज ऋण समस्या का उचित हल उल्लेखनीय है। केवल १२,००० समितियां कार्य कर रही थीं, जिनमें ५½ लाख सदस्य संख्या थी और सम्पूर्ण कार्यशील पूंजी केवल ५½ करोड़ थी।

२. *१९१५ से १९२५ तक द्वितीय चरण:* इस अवधि से प्रथम युद्ध प्रारम्भ हो चुका था। युद्ध के उपरान्त भारतवर्ष में सन् १९१९ के विशेष उल्लेखनील सुधार हुए, जिनका आर्थिक एवं राजनैतिक दोंनों क्षेत्रों में प्रभाव पड़ा। समितियों की संख्या ५८ हजार हो चुकी थी और सदस्य संख्या २१½ लाख तथा कार्यशील पूंजी ३६½ करोड़ के लगभग पहुंच चुकी थी। प्रयोगों का अवसर समाप्त हो चुका था। सहकारिता आन्दोलन ने प्रत्यय क्षेत्र के बाहर, अन्य क्षेत्रों में भी सफलतापूर्वक कार्य करना प्रारम्भ कर दिया था।

३. *१९२५ से १९४० तक तृतीय चरण:* इस काल में सहकारिता क्षेत्र में बहुत से परिवर्तन देखे गये। सन् १९३० तक अवसाद काल (depression period) प्रमुख उल्लेखनीय अवसर था। इससे सहकारिता आन्दोलन की कुछ कमजोरियां प्रकट हुईं, जिन्हें सोचने और समझने का अवसर मिला। इसी काल के अनुभव का कारण है कि आज देश में एक उद्देश्य वाली समितियों के स्थानों पर "ग्रामों" में बहु-प्रयोजन और कहीं-कहीं सर्व-प्रयोजन समितियों ((all purposes societies) की स्थापना की जा रही है। सन् १९३६ में विभिन्न प्रान्तों में जनप्रिय मंत्रिमंडलों की स्थापना हुई, जिन्होंने कांग्रेस संगठन के चुनाव घोषणा-पत्र के

अनुसार, देश के करोड़ों कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने का बीड़ा उठाया था। इसके प्रयत्नों से, १९३० के अवसाद में जो सहकारिता आंदोलन मृतप्राय हो चुका था, उसे जीवन स्फूर्ति मिली। समितियों की संख्या ५८,००० से बढ़कर १ लाख १७ हजार पर पहुंच गई और उनकी सदस्य संख्या २१½ लाख से बढ़कर आधा करोड़ तथा कार्यशील पूंजी ३६½ करोड़ से बढ़कर १०५ करोड़ पर पहुंच गई।

४. *सन् १९४१ से सन् १९४६ तक चतुर्थ चरण:* इस अवधि में युद्ध का प्रभाव रहा। युद्ध-कालीन नवीन परिस्थितियों में सहकारिता आंदोलन को नवीन सन्तुलन ढूंढ़ने की आवश्यकता अनुभव हुई, जिसके लिये यद्यपि प्रारम्भ में ऐसा लगता था कि इस आंदोलन के पास न तो पर्याप्त साधन हैं और न जनशक्ति है, किन्तु परिस्थितियों की विवशता ने सरकारी विभागों का इस ओर स्वतः झुकाव पैदा कर दिया और पीड़ित जनता भी कोई अन्य कल्याणकारी मार्ग न पाकर इसी ओर झुक पड़ी। इस प्रकार सन् १९४३ में बंगाल में भीषण अकाल के बाद, देश के सभी भागों में अन्न-वितरण योजनाओं के लिये सहकारिता समितियों और संघों को प्रयोग में लाया गया। प्रत्यय-क्षेत्र में समितियों की आर्थिक दशा सुधरी। उनकी पुरानी उधारी वसूल होने लगी। इस अतिरिक्त पूंजी को नवीन विनिमय क्षेत्र ढूंढ़ने की जरूरत पड़ी। इस बीच देश की सत्ता के हस्तांतरण किये जाने की राजनैतिक हलचलें पैदा हुईं, जिनके प्रभाव का वर्णन अंतिम, पंचम चरण में किया गया है।

५. *१९४७ से आज तक, पंचम चरण:* सन् १९४७ से देश को स्वतंत्रता प्राप्त हुई। देश का विभाजन हुआ और देश के कुछ भाग "विदेश" बन गये। जहां पर अशांतिपूर्ण वातावरण,

कुछ संकीर्ण विचारों और धार्मिक मदान्धता के कारण पैदा हो गया था। बहुत से हिन्दू, सिक्ख उस भाग से निकलने के लिये विवश हुए। देश के सन्मुख उनके वस्त्र, अन्न आदि के साथ-साथ स्थायी पुनर्वास की समस्या खड़ी हो गई।

अनेकानेक कठिनाइयों के होते हुए भी, केंद्रीय एवम् प्रान्तीय राज्य सरकारों ने काफी समझदारी और सतर्कता के साथ देश की आर्थिक दशा सुधारने के प्रयास किये हैं। सहकारिता विभाग भी विकास विभाग का एक मुख्य अंग स्वीकार कर लिया गया है और इसलिये इस विभाग की दिनोंदिन उन्नति होने में अब कोई शंका नहीं रह जाती।

पंचवर्षीय योजना में सहकारिता का स्थान, सामुदायिक योजनायें और सहकारिता; तथा भारतीय संयोजना आयोग की ग्राम व्यवस्था (village management) सम्बन्धी नवीन प्रयोग प्रकट हुए हैं, जिनका विस्तृत उल्लेख, अलग अन्य अध्यायों में सविस्तार किया गया है।

अप्रेल, '५४ में हमने इस आन्दोलन के पचास वर्ष पूरे कर लिये हैं और इस उपलक्ष में "स्वर्ण जयन्ती" (Golden Jubilee) देश के कोने-कोने में मनाई गई है। इस अवसर पर सम्पूर्ण आन्दोलन की एक जांच (survey) सी हो गई है, जिसमें जनसाधारण से लेकर, केंद्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के उच्च पदाधिकारियों और कृषि एवं खाद्यान्न मंत्रालयों के मंत्रिगणों तक ने अपने-अपने उद्‌गार, इस आन्दोलन की कमजोरियों की ओर इशारा करते हुए और इसके भावी कल्याण की कामना करते हुए व्यक्त किये हैं।

आदरणीय डा० देशमुख, मंत्री, केंद्रीय कृषि सचिवालय ने कहा—"सहकारिता को कभी भी किसी राजनैतिक सिद्धांत

का शिकार नहीं होना चाहिये। उसे "सहकारिता" के उच्च आदर्शों को सम्हालना है।"

आदरणीय डा० राजेन्द्र प्रसाद, अध्यक्ष, भारतीय गणतंत्र राज्य, ने इस अवसर पर सहकारिता के प्रति अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहा है —"इस आन्दोलन ने गत् पचास वर्षों में, हमारे देश की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के विकास में बहुत महत्वपूर्ण भाग लिया है। .... हमारे जैसे गरीब एवं घने आबादी वाले देश में जहां प्रत्येक राज्य में आर्थिक तंगी (economic distress) है, इस आन्दोलन की अवश्य ही शक्तिशाली नैतिक पहुंच (अपील) होनी चाहिये। .... मुझे बिलकुल संदेह नहीं है कि इस आंदोलन के ग्रामों में प्रसार पाने से ही देश की अर्थ-व्यवस्था (economy) दृढ़ भित्ति पर खड़ी हो सकेगी।"

: ६ :

सहकारी प्रत्यय समितियां (विदेशों में)

(Co-operative Credit Societies, abroad)

सहकारी प्रत्यय आंदोलन, सर्वप्रथम, जर्मनी से प्रारम्भ हुआ। हर शुल्ज (Herr Schulze) जो कि डेलिट्ज-शुल्ज (Delitz-Sch) के नगराध्यक्ष (mayor) थे और श्री एफ. डब्ल्यू रेफीशन (F.W. Reifiesen) इसके दो प्रमुख कर्णधार थे। इन दोनों व्यक्तियों ने जर्मनी की गरीब जनता को उसकी पददलित दशा से, सहकारिता के सिद्धांतों के आधार पर, बल प्रदान किया और उसकी आर्थिक दशा सुधारने में काफी सहायक सिद्ध हुए। जर्मनी की जनता, भारतवर्ष की जनता के समान ही कुछ चन्द अर्थ-लोलुप महाजनों के चंगुल में फंसी हुई थी। इन दोनों महानुभावों ने लगभग एक ही समय में जर्मनी के पूर्वी और पश्चिमी भागों में प्रत्यय सहकारिता को व्यावहारिक रूप प्रदान किया। शुल्ज ने जो प्रत्यय समितियां स्थापित कीं, वे घनी आबादीवाले स्थानों के लिये अधिक उपयुक्त सिद्ध हुईं और रेफीशन द्वारा स्थापित प्रत्यय समितियां छोटे-छोटे कम जनसंख्या वाले क्षेत्रों के लिये सफल सिद्ध हुईं, इसलिये ग्रामों में उनका अधिक प्रचार हुआ। आज शुल्ज के प्रतिपादित सिद्धांतों के आधार पर संचालित प्रत्यय समितियाँ विशेष रूप से नगरों में पाई जाती हैं और रेफीशन के सिद्धांतों पर अवलंबित समितियां ग्रामों में पाई जाती हैं।

प्रत्यय समिति की परिभाषा

प्रत्यय समितियां, समता, प्रजातांत्रिक और पारस्परिक भ्रातृत्व के आधार पर अवलम्बित, सामान्य व्यक्तियों का संगठन होती हैं, जो कि उन व्यक्तियों की सामूहिक संचित धन राशियों को, कम ब्याज की दर पर, उन्हें उपयोग करने देने के लिये स्थापित की जाती हैं।

रेफीशन प्रत्यय समितियां:—ग्रामों में बसनेवाले सामान्य कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने में श्री एफ. डब्ल्यू. रेफीशन ने जर्मनी के अन्दर आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त की। इसलिये इन प्रत्यय समितियों का, आज न केवल जर्मनी में ही, बल्कि संसार के विभिन्न देशों में बहुत प्रचार हुआ है। सामान्य साधन सम्पन्न होते हुए भी उसने जो सफलता प्राप्त की, उसका श्रेय उसकी लगन और अथक प्रयासों का ही प्रतिफल कहा जा सकता है।

इन समितियों के मुख्य लक्षण इस प्रकार के थे:—

उद्देश्य:—इन समितियों का प्रमुख उद्देश्य अपने सदस्यों का भौतिक कल्याण रहता है। वे पारस्परिक आर्थिक समृद्धि के लिये संगठित की जाती हैं। प्रत्येक सदस्य अपनी प्रत्यय समिति से साधारण ब्याज की दर पर रुपया प्राप्त कर सकता है। इन समितियों द्वारा सदस्यों के बीच धन संचय करने की प्रेरणा दी जाती है। उन सदस्यों के पास जो संचित धन निरर्थक पड़ा होता है, उसे समिति के पास जमा कर देते हैं, और ज्यों-ज्यों कुछ और बचत होती चली जाती है, वे सदस्य उसे समिति में जमा करते चले जाते हैं। ये समितियां इसलिये ग्रामीणों के लिये ग्राम्य बैंक के समान कार्य करती हैं।

इन समितियों में सदस्यों की प्रत्यय-योग्यता (credit-worthiness) का सबसे बड़ा प्रमाण उनका नैतिक आचरण माना जाता है। सभी व्यक्ति एक दूसरे से परिचित होते हैं और सत्य व्यवहार करते हैं। ऋण आदि सदैव आवश्यकतानुसार प्रदान किये जाते हैं और ऋणों का शोधन निश्चित समय पर करना नैतिक कर्तव्य समझा जाता है।

सदस्यता और कार्यक्षेत्रः—बहुधा एक गांव के व्यक्ति, जो एक दूसरे से भलीभांति परिचित होते हैं और एक दूसरे की आवश्यकताएं भलीभांति जानते हैं, रेफीशन समिति स्थापित करते हैं। इन समितियों का कार्यक्षेत्र बहुत छोटे क्षेत्रों में सीमित रहता है, जहां प्रत्येक सदस्य के बीच काफी घनिष्ठ सम्बन्ध पाये जाते हैं। अधिकतर एक ग्राम तक और कभी-कभी दो या तीन ग्रामों तक एक ही समिति का कार्यक्षेत्र रहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि रेफीशन समितियों की सदस्यता परिचित व्यक्तियों के बीच ही सीमित रहती है। इस कारण क्षेत्र सदैव संकुचित रहता है।

संगठनः—रेफीशन समितियों का संगठन बहुत सरल और प्रजातांत्रिक होता है। सदस्यों की एक वार्षिक सभा होती है जिसमें एक संचालक गण (board of directors) चुना जाता है और एक निरीक्षण परिषद् नियुक्त कर दी जाती है। संचालक गण वर्ष भर प्रबन्ध-कार्य सम्पन्न करते रहते हैं। निरीक्षण परिषद् संस्था की आर्थिक सुदृढ़ता पर ध्यान देती है और इसी उद्देश्य से सब गतिविधियों पर सामान्य नियंत्रण रखती है।

दायित्वः—रेफीशन समितियों का दायित्व अधिकतर असीमित होता है। जर्मनी में रेफीशन मॉडल की समितियों में

६२ प्रतिशत समितियों का दायित्व असीमित था। असीमित दायित्व के कारण सदस्यगण समिति के कार्य पर सदैव सतर्कता के साथ निगाह रखते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि समिति की असफलता के अवसर पर उन्हें न केवल उनके द्वारा लाई हुई अंश पूंजी तक ही हानि उठानी होगी, बल्कि सम्पूर्ण हानि को अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति में से सामर्थ्यानुसार पूरा करना पड़ेगा। समिति के सदस्य की अवहेलना से हुई क्षति, सभी सदस्यों को क्षति पूर्ति के लिये उत्तरदायी बना सकती है। इस कारण सभी सदस्य आपस में एक दूसरे की गतिविधियों पर, जो कि समिति के लेनदेन से संबंधित हों, निगरानी रखते हैं। इसके अतिरिक्त समिति को बाहर से रुपया उधार लेने में भी सुविधा रहती है, क्योंकि असीमिति दायित्व के कारण यह विश्वास रहता है कि प्रत्येक दशा में उत्तमर्णों को उनका पूरा-पूरा रुपया वापस मिल जायेगा। यदि समिति समाप्त कर दी जाय तो समिति के अशोधित कर्जों को चुकाने के लिये, सदस्यों की व्यक्तिगत सम्पत्ति भी काम में लाई जा सकती है। समिति के सब कर्ज पूरे-पूरे चुकाये जायेंगे।

दोष:—इस प्रकार के असीमित दायित्व का एक दोष भी है। धनाढ्य व्यक्ति इस आन्दोलन में योग नहीं देते, क्योंकि उन्हें यह डर रहता है कि अन्य सामान्य सदस्यों की गतिविधियों के कहीं वे शिकार न बन जायें। समिति के समापयन के अवसर पर समिति का प्रत्येक उत्तमर्ण (creditor) उन्हीं की व्यक्तिगत सम्पत्ति के विरुद्ध अपने ऋणों के शोधनार्थ वाद प्रस्तुत करेगा, क्योंकि अन्य व्यक्ति तो बिलकुल सम्पत्तिविहीन, गरीब कृषक होते हैं।

इस उपर्युक्त कारण से, आधुनिक लेखकों ने रेफीशन मॉडल की समितियों के लिये प्रत्याभूति दायित्व (guaranteed liability) की सिफारिश की है।

पूंजी:—रेफीशन मॉडल की समिति की बहुधा कोई अंश पूंजी नहीं होती। उन्हें अपना कार्य सम्पन्न करने के लिये कार्य-वाहक पूंजी निम्न साधनों से उपलब्ध करनी पड़ती है।

व्यक्तिगत निक्षेप रेफीशन माडल की समितियों में कार्यवाहक पूंजी के रूप में सबसे अधिक महत्वशील होते हैं। किसान के लिये ये संस्थाएं एक प्रकार से अधिकोष या बैंक के समान होती हैं, जहां पर उसे रुपया जमा करते हुए कोई संकोच नहीं होता। ये संस्थाएं सदैव ईमानदारी से काम करती हैं और अपने सदस्यों में थोड़ी-थोड़ी शक्ति संचय करने की प्रेरणा भी देती हैं। राशि संचय की प्रेरणा से समिति की आर्थिक दशा स्वतः दिनोंदिन सम्हलती है।

रेफीशन समितियों को केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों से भी रुपया उधार मिल जाता है।

माध्यमिक अर्थ-संस्थाएं, जैसे केंद्रीय सहकारी अधिकोष एवं केंद्रीय भू-प्राधि अधिकोष आदि संस्थाएं भी उधार रुपया देती रहती हैं।

कुछ समितियों में एक या दो रुपये के अंश भी सदस्यों को निर्गमित किये जाते हैं। इस प्रकार थोड़ी-सी राशि अंश पूंजी से भी संग्रहीत कर ली जाती है। वास्तव में यह बहुत थोड़ी राशि होती है, क्योंकि ग्रामों में रहनेवाले गरीब किसान मुश्किल से ही कुछ रुपया अंशदान दे सकते हैं।

सदस्यों से प्राप्त निक्षेप पर ३, ४ प्रतिशत वार्षिक ब्याज प्रदान किया जाता है। सदस्यों को जो ऋण दिये जाते हैं, उन पर बहुधा ४ प्रतिशत से ६½ प्रतिशत तक वार्षिक ब्याज लिया जाता है। ऋण केवल सदस्यों को ही दिये जाते हैं और रुपया जमा करने का अधिकार ग्राम के सभी व्यक्तियों को रहता है।

निष्कर्ष:—इस आन्दोलन से जर्मनी के गरीब किसानों के जीवन में महान् परिवर्तन हो गया था। जो दशा रेफीशन के समय में जर्मनी के कृषकों की थी, वही दशा प्रथम महायुद्ध के पूर्व और पुनः प्रथम महायुद्ध के बाद सन् १९३७ तक भारतवर्ष की भी रही। भारतवर्ष में इन समितियों के कार्य का विवरण इसके आगे दिया गया है। साहूकारों ने जर्मनी में, इन समितियों की सफलता देखकर अपने तरीकों में परिवर्तन कर लिया था। किसानों ने कृषि के उत्तम तरीके अपना लिये थे और उत्पादन में काफी अभिवृद्धि हुई। अनाज की कीमतें कृषकों के लिये पहले से अधिक लाभप्रद सिद्ध होने लगी थीं, क्योंकि मध्यगों का वर्तन (intermediaries commission) नियमित और नियंत्रित कर दिया गया था। इस प्रकार जर्मनी की ग्रामीण जनता के आर्थिक और सामाजिक जीवन में इन समितियों के कारण काफी सुधार हुआ।

शुल्ज़ डेलिट्ज़ मॉडल की समितियां:—शुल्ज़ डेलिट्ज़ ने भी उसी समय प्रत्यय समितियां प्रारम्भ कीं, जिस समय रेफीशन जर्मनी के ग्रामों में प्रत्यय समितियां स्थापित कर रहे थे। इनका कार्यक्षेत्र नगरों में था। दोनों के सिद्धांतों का आधार, लगभग एक-सा ही था, किन्तु परिस्थितिवश कार्य-रूप में विभिन्नता आती चली गयी। शुल्ज़ समितियां बड़े उपक्रमों में कार्य करने वाले संगठित श्रमिकों के लिये भी और घरेलू उद्योग धन्धे

संचालित करनेवाले कारीगर वर्ग (कर्मचारियों) के लिए भी समान रूप से हितकर थीं। सर्वप्रथम सन् १८४६ में श्रमिकों को सुविधा प्रदान करने के लिए एक समिति स्थापित की थी। तत्काल जूते बनानेवालों की एक समिति स्थापित की। सन् १८५० में एक प्रत्यय समिति स्थापित की गई, जो कि वास्तव में शुल्ज़ मॉडल की समितियों का आधार बनी। शुल्ज़ मॉडल समितियों के लक्षण निम्नलिखित हैं :—

उद्देश्य:—शुल्ज़ मॉडल की समितियों का उद्देश्य छोटे-छोटे व्यापारियों, कारीगरों और मध्यम वर्ग के व्यक्तियों को, जो कि नगर में बसते हैं, रुपया उधार देना रहता है। शुल्ज़ का विचार था कि मध्यम वर्ग के व्यक्ति बहुधा आर्थिक संकटों से ही पूंजीपतियों के शिकार बन जाते हैं, इसलिये उन्हें उनकी दयनीय दशा से मुक्ति दिलाने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें आर्थिक सहायता ऋणों के रूप में दी जाय। सब मध्यम-वर्ग के व्यक्तियों को एक साथ ही रुपये की जरूरत नहीं पड़ती। इसलिये, यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी संचय राशि सहकारिता समिति में जमा करके रखे, तो उस सहकारिता समिति के पास जितने व्यक्तियों को ऋण की एक समय विशेष पर आवश्यकता पड़ती है, उन्हें ऋण प्रदान करने के लिये पर्याप्त धन मिल सकता है। इस प्रकार मध्यमवर्ग के व्यक्ति पारस्परिक सहयोग और स्वावलंबन के द्वारा आपस में एक दूसरे की बड़ी आसानी से मदद कर सकते हैं; उन्हें इसके लिये केवल एक समिति निर्माण करने की और उसे विधिवत् संचालित करने का दायित्व वहन करने की आवश्यकता होगी।

सदस्यता:—शुल्ज़ मॉडल की समितियों का कार्यक्षेत्र रेफीशन समितियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत रहता है।

सदस्य, नगर के भिन्न-भिन्न भागों में बसे रहते हैं और बहुधा एक दूसरे को व्यक्तिगत रूप से भलीभांति नहीं पहचानते। सदस्यों की संख्या भी साधारणतया हजारों में होती है। जर्मनी में कुछ शुल्ज़ मॉडल समितियों की सदस्यता १० हजार सदस्यों तक भी पायी जाती है। विभिन्न व्यवसायी इसके सदस्य पाये जाते हैं। उनका पारस्परिक सम्बन्ध अपरिचितों जैसा होता है, किन्तु समिति के सदस्य होने के कारण, एक निकट सम्पर्क स्थापित हो जाता है।

समिति संगठनः—शुल्ज़ समिति का आधार प्रजातांत्रिक है। सभी सदस्यों की एक सामान्य सभा होती है, जो कि एक निरीक्षण परिषद् और एक व्यवस्थापक गण (board of manegement) चुनती है। सामान्य व्यवस्था व्यवस्थापक गण के सुपुर्द रहती है। दैनिक कार्य, वैतनिक दो तीन कर्मचारी सम्पन्न करते हैं। निरीक्षण परिषद् सप्ताह में एक बार सभा बुलाती है और समिति के आर्थिक मामलों पर विचार-विमर्श करती है और आवश्यकीय नियंत्रण रखती है। आवश्यकतानुसार निरीक्षकों की नियुक्ति भी करती है।

दायित्वः—शुल्ज़ मॉडल समिति का दायित्व बहुधा अंशों तक सीमित रहता है। प्रारम्भ में, कुछ काल तक इनका दायित्व दोषपूर्ण अधिनियमों के कारण असीमित रहा, लेकिन बाद में इस वर्ग की समितियों का दायित्व सीमित ही स्वीकृत किया गया है। इसका एकमात्र कारण इनका क्षेत्र-विस्तार है, जिसके कारण सदस्यों का पारस्परिक परिचय नहीं रहता और इसलिये अपरिचित व्यक्तियों के विषय में कोई भी असीमित ।यित्व वहन करना स्वीकार न करेगा।

पूँजी:—इन समितियों की अंश पूंजी होती है और प्रत्येक अंश का मूल्य ५०) या १००) रुपया होता है। अंश पूंजी एक-मुश्त अथवा प्रभागों में सुविधानुसार मंगायी जाती है। पूंजी राशि की मात्रा पर्याप्त रहती है, इसलिये कार्यवाहक पूंजी के लिये अन्य संस्थाओं या व्यक्तियों से रुपया उधार नहीं लेना पड़ता। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य अपना संचय लेखा (savings account) खोल देता है और जो कुछ उसकी बचत होती है, उसे जमा करता रहता है और सुविधानुसार रुपया निकाल लेता है।

ऋण:—शुल्ज़ मॉडल की समितियों में, ऋण लेने के लिये पर्याप्त प्रतिभूति (security) देनी पड़ती है। सदस्यों के पास सबसे अधिक सुविधाजनक प्रतिभूति, उनकी निजी निक्षेप होती हैं जिसके आधार पर उन्हें ऋण सुविधापूर्वक प्राप्त हो जाता है। जो सदस्य समिति में बचाकर, रुपया जमा नहीं करते उन्हें ऋण मिलने में कठिनाई होती है। भारतवर्ष में इन समितियों के संचालन में कुछ कटु अनुभव उन व्यक्तियों के साथ हुए हैं, जो गांवों से आकर कुछ काल तक मिलों में काम करते हैं और पुनः किसी भी दिन अचानक गांव को वापस चले जाते हैं। इस प्रकार के श्रमिकों से व्यवहार करते समय बहुत सम्भलकर व्यवहार करना पड़ता है।

बहुधा इस प्रकार की समितियां अल्पकालीन ऋण प्रदान करती हैं, जिनकी व्यवस्था अंश पूंजी और सदस्यों की निक्षेप राशि में से ही हो जाती है। इन समितियों से ऋण उत्पादक कार्यों के लिये ही स्वीकृत किये जाते हैं; किन्तु ऐसे उदाहरण बहुत मिलेंगे, जहाँ ऋण जिस उद्देश्य के लिये लिया गया था उस उद्देश्य के लिये व्यय न करके किसी अन्य अनुत्पादक उपयोग

में लिया गया हो। प्रत्येक सदस्य को केवल निर्धारित सीमा तक, अधिकतम ऋण प्रदान किया जा सकता है। ऋण के लिए आवेदन करने वाले व्यक्ति को एक आश्वासन-दाता (pledgee) देना पड़ता है, जो कि व्यक्तिगत आश्वासन प्रदान करता है। ऋण एकमुश्त में प्रदान कर दिये जाते हैं।

किसी-किसी शुल्ज़ समिति द्वारा व्यक्तिगत आई. ओ. यू. (I. O. U.) भी स्वीकार किये जाते हैं। ऋण देने का यह बहुत सुविधाजनक तरीका है।

ऋणों की अवधि:—ऋण बहुधा अल्पकाल के लिये दिये जाते हैं। जो व्यक्ति ऋण ले जाते हैं, वे एक दूसरे से परिचित नहीं होते, इसलिए ऋणी के खर्च पर कोई नियंत्रण नहीं रहता। इसके अतिरिक्त, औद्योगिक श्रमिक बहुधा अपने गांवों को वापस जाते रहते हैं। इस कारण इन समितियों की सदस्यता परिवर्तित होती रहती है। इसी कारण ऋण भी दीर्घ काल के लिए प्रदान नहीं किये जा सकते।

शुल्ज़ समितियों द्वारा, ब्याज, रेफीशन मॉडल की समितियों की अपेक्षा ऊंची दर से लिया जाता है। जर्मनी में, जब इस प्रकार की समितियां प्रारम्भ की गई थीं, तब ब्याज की दर १२ प्रतिशत से लेकर १५ प्रतिशत तक थी। बाद में यह दर घटकर ५ प्रतिशत से ८ प्रतिशत तक आ गई है। ब्याज की ऊंची दर होने के दो कारण हैं। सर्वप्रथम, शुल्ज़ समितियों को अपने निजी साधनों (resources) पर निर्भर रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, ये संस्थाएं व्यावसायिक उद्देश्यों से कार्य करती हैं, इसलिए उचित लाभोपार्जन इनका लक्ष्य रहता है, यद्यपि बाद में, वह लाभ थोड़ी-सी संचिति रखने के उपरान्त, सदस्यों

ही को वितरण कर दिया जाता है। रेफीशन समितियों के समान शुल्ज़ समितियों द्वारा नैतिकता पर जोर नहीं दिया जाता है।

निष्कर्षः—शुल्ज़ समितियों से बड़े-बड़े नगरों में रहने-वाले श्रमिकों और सामान्य आयवाले नागरिकों को काफी लाभ पहुँचा है। अगर यह कहा जाय कि यह आन्दोलन असहाय एवं साधन-विहीन नगर वासियों की आशा-ज्योति रहा है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

शुल्ज़ समितियों का उचित लाभोपार्जन लक्ष्य रहता है, क्योंकि इन्हें अपनी पूंजी पर लाभांश वितरण करना पड़ता है। सामान्य व्यक्तियों को सदस्य बनाने के लिये उचित लाभांश प्रेरणात्मक सिद्ध हुआ है। इससे सामान्य आयवाले गृहस्थों में रुपया बचाने और उसे शुल्ज़ समितियों के अंशों में विनियोग करने अथवा स्थायी निक्षेप (fixed deposit) पर रखने की प्रवृत्ति पैदा होती है। शुल्ज़ ने, शुरू से ही, इस बात पर काफी जोर दिया कि प्रत्येक नगर समिति की अपनी पर्याप्त पूंजी होनी चाहिए और इसके लिए सब सदस्यों को मिलकर अपनी अल्प आय का एक अंश अवश्य बचाना चाहिए। उत्पादन की वर्तमान प्रवृत्तियों को देखते हुए इस अटल सत्य का पर्याप्त प्रमाण मिल जाता है कि बिना पूंजी एकत्रित किये हुए आज के वृहत् स्तरीय उत्पादन में कोई नगर-समिति पूंजीपतियों की प्रतिस्पर्धा में न ठहर सकेगी, जब तक वह प्रतिक्रियावादी पूंजीपतियों की कुचेष्टाओं का डटकर सामना नहीं कर सकती। जन-बल के साथ-साथ, इसलिये, अर्थ-बल भी संगठित करना बहुत जरूरी है।

कुछ देशों में, जहाँ इन समितियों का कार्य सफल रहा है, श्रमिक समुदाय में इस प्रकार की समितियों के प्रति काफी उत्साह

पाया जाता है। वास्तव में इन समितियों ने सिद्ध कर दिया है कि किस प्रकार सामान्य व्यक्ति अपनी अल्प सामर्थ्य को संग्रहित करके आश्चर्यजनक प्रगति कर सकते हैं।

रेफीशन और शुल्ज़ समितियों की तुलना

(अ) विभिन्नता

रेफीशन समिति	शुल्ज़ समिति
१. सीमित क्षेत्र में कार्य करती है।	१. विस्तृत क्षेत्र में कार्य करती है।
२. अंशों की अर्हा नाममात्र होती है।	२. अंशों की अर्हा काफी होती है।
३. दीर्घकालीन ऋण दिये जाते हैं।	३. अल्पकालीन ऋण दिये जाते हैं।
४. कोई लाभांश वितरित नहीं किया जाता।	४. काफी लाभांश वितरित किया जाता है।
५. अवैतनिक कर्मचारी काम करते हैं।	५. वैतनिक कर्मचारी काम करते हैं।
६, सामाजिक कार्यों में भाग लेती है।	६. सामाजिक कार्यों में भाग नहीं लेती।
७. शिक्षा, नैतिकता और धार्मिकता आदि आदि गुणों को जीवन में प्रविष्ट कराने की कोशिश करती है।	७. ऐसा कोई उद्देश्य रखती ही नहीं।
८. ऋण के वास्तविक कल्याण के प्रति जागरूक रहती है।	८. ऋणी किस प्रकार रुपया व्यय करता है, इससे कुछ मतलब नहीं। वह ब्याज समय पर देता रहे।

(ब) समानता

रेफीशन समितियां	शुल्ज़ समितियां
१. गरीबी निवारण का प्रयास करती हैं।	१. गरीबी निवारण का प्रयास करती हैं।
२. सदस्यों को रुपया बचाने की प्रेरणा देती हैं।	२. सदस्यों को रुपया बचाने की प्रेरणा देती हैं।
३. ऋणों द्वारा आर्थिक सहायता प्रदान करती हैं।	३. ऋणों द्वारा आर्थिक सहायता करती हैं।
४. उपार्जित लाभों में से संचिति निर्माण करती हैं।	४. उपार्जित लाभांश में से संचिति निर्माण करती हैं।

लुज्जति समितियाँ (Luzzation Societies)

श्री एल० लुज्जति, इटली के सहकारिता आन्दोलन के प्राण थे। उनका नाम आज भी जगत विख्यात है। वे आस्ट्रिया से राज्य सरकार के कोपभाजन बनकर इटली में अर्थ-शास्त्र के प्राध्यापक नियुक्त हुए। उन्होंने शुल्ज़ के विचारों का अध्ययन करके, इटली के वातावरण में जो संशोधन आवश्यक थे उन्हें अपनाते हुए, इटली के प्रसिद्ध नगर मिलन में सहकारी सिद्धांतों पर अवलंबित एक अधिकोष स्थापित किया, जो 'बेंका पापूलेर' (Banca Populare)कहलाता था। वास्तव में यह भी शुल्ज़ पद्धति का ही अनुसरण कहा जा सकता है। लुज्जति ने सहकारिता आन्दोलन को जर्मनी में प्रख्यात करने के लिये लेख एवं भाषण-मालाओं का आयोजन किया। लुज्जति पद्धति की सहकारी समितियों का संगठन, उद्देश्य एवं प्रबन्ध-व्यवस्था निम्न प्रकार थी।

उद्देश्य:—इन समितियों का उद्देश्य नगर निवासियों को रुपया उधार पाने की सुविधा देना था। उसने रुपया उधार लेने के लिये विपत्रों (विनिमय-पत्रों) का प्रयोग प्रचलित किया। बहुत गरीब आदमियों के लिये, उसकी समिति में वास्तव में कोई स्थान नहीं था। सर्वप्रथम उसने समिति में पर्याप्त पूंजी की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया। उसकी समितियों में अंश पूंजी पर्याप्त रहती थी। अंश दान की राशि १० प्रभागों (instalments) में प्रति माह प्रदान करनी पड़ती थी। उसका यह विचार था कि जब तक अपनी पर्याप्त पूंजी न होगी तब तक कोई व्यक्ति नगर समिति को सहायता प्रदान करने को तत्पर न होगा। अंशों की राशि को विभिन्न प्रभागों (instalments) में प्रदान करने की सुविधा से पर्याप्त पूंजी उपलब्ध हो जाती थी।

सदस्यता:—लुज्जति समितियों का उद्गम इटली की साहचर्य समिति (Friendly Societies) थी, जो कि लुज्जति के द्वारा संचालित आन्दोलन से पूर्व ही कार्य कर रही थी। इन समितियों के सदस्य मध्यम वर्ग के होते थे, जो कि बहुत गरीब नहीं होते थे। इन्हीं समितियों में रुपया उधार देने की व्यवस्था उचित ब्याज की दर पर कर दी गई। कुछ नगरों में इन समितियों से रुपया उधारी मिलने के साथ-साथ उत्तम किस्म की वस्तुएं उचित मूल्य पर विक्रय करने की व्यवस्था थी।

संगठन एवं व्यवस्था:—लुज्जति समितियों की व्यवस्था शुल्ज़ समितियों की अपेक्षा अधिक प्रजातांत्रिक है। सम्पूर्ण व्यवस्था का कार्य गण (board) द्वारा किया जाता है। इस गण में सदस्यों, अधमर्णों (debtors) और उपभोक्ताओं के

प्रतिनिधि रहते हैं। यह गण पदाधिकारियों की नियुक्ति करता है और दैनिक व्यवस्था का आयोजन रखता है।

लेखा पुस्तकों के निरीक्षण के लिये, एक अंकेक्षण समिति, गण के सदस्यों में से चुनी जाती है।

गण की सहायतार्थ दो समितियां—अपहार समिति और क्षति-भारुता समिति स्थापित की जाती हैं। अपहार समिति गण को ऋण के लिये प्राप्त आवेदन पत्रों पर परामर्श देती है। इसके अतिरिक्त सदस्यों की प्रत्यय सामर्थ्य (credit-worthiness) के विषय में जानकारी रखती है। इस समिति का कार्य पंजीयक की सहायता से बहुत सरल हो जाता है। क्षति-भारुता समिति, सदस्यों को जो ऋण प्रदान किये गये हैं उनके उचित व्यय पर ध्यान देती है। रुपये को केवल उसी कार्य के लिये प्रयोग किया जा रहा है अथवा नहीं, जिसके लिये वह स्वीकृत किया गया था, इसके अतिरिक्त प्रत्येक ऋण के ठीक समय पर शोधन आदि करने की देखभाल भी करती है। विवादास्पद विषयों पर न्यायालय से निर्णय प्राप्त किया जाता है। शुल्क समितियों को परामर्श देने के लिये जर्मनी में विशेषज्ञ गण (board of experts) रहता है, जबकि लुज्जति वर्ग की समितियों को परामर्श देने के लिए अपरिपक्व गण (board of amatures) रहता है। यह संस्था समितियों के निरीक्षण एवं नियंत्रण में सहायता देती है। लुज्जति वर्ग की समितियों का संचालन अवैतनिक कर्मचारी करते हैं।

दायित्व:—इटली में असीमित दायित्व उपयुक्त नहीं समझा गया। इस देश में गरीब और अमीर के बीच बहुत अन्तर था। लुज्जति को यह विश्वास था कि इतने विषम अन्तर के कारण

धनिक और गरीब, एक साथ मिलकर समिति में कार्य नहीं कर सकते, इसलिये उसने सीमित दायित्व स्वीकार किया।

प्रबन्ध:—लुज्जाति समितियों के प्रबन्ध का कार्य एक प्रबन्ध समिति करती है, जिसका निर्वाचन साधारण सभा में किया जाता है। प्रबन्ध समिति काफी बड़ी होती है, उसमें सभी वर्गों का प्रतिनिधित्व रहता है, इसलिए दैनिक कार्य व्यवस्था के लिये एक उप-समिति बना दी जाती है। उप-समिति का कार्य-काल केवल एक वर्ष रहता है।

इन समितियों की आर्थिक स्थिति काफी सुदृढ़ है और उन्हें दूसरे प्रत्यय अभिकर्तृत्वों से ऋण प्राप्त करने में कोई दिक्कत नहीं होती है। इन समितियों में सदस्य संचित राशियां भी काफी तादाद में जमा करते हैं। ऋण बहुधा अल्पकाल के लिये प्रदान किये जाते हैं।

इटली की ग्रामीण साख समितियां:—इटली के ग्रामों में सहकारिता आन्दोलन को रेफीशन मॉडल पर प्रसार करने में डाक्टर कोल्मर्ग (Doctor Colmurg) ने बहुत परिश्रम किया। सम्पन्न किसानों के लिए एवं छोटे-छोटे व्यापारियों के लिये, जिन्हें ऋण प्रदान करने के लिये ग्रामों में कोई साधन नहीं थे, डाक्टर कोल्मर्ग ने रेफीशन ढंग की समितियां स्थापित कीं। सर्वप्रथम उन्होंने एक समिति अपने गांव में स्थापित की, जिसने बड़ी आश्चर्यजनक प्रगति दिखलाई। तीन महीने के कार्यकाल में ही इस समिति ने १½ प्रतिशत ब्याज की दर पर किसानों को रुपया उधार देना शुरू कर दिया। उसके कार्य की बड़ी सराहना हुई और तुरन्त उसके ढंग की समितियां बनीं। इटली के ग्रामों की प्रत्यय समितियां, जर्मनी की रेफीशन समितियों से निम्नलिखित बातों में भिन्न हैं :—

१. समिति के सदस्य समिति के कार्य में खूब दिलचस्पी रखते हैं। प्रत्येक सदस्य यथाशक्ति समिति की सभा में भाग लेता है। जो व्यक्ति अकारण सभा में उपस्थित नहीं होता, वह अन्य सदस्यों की निगाहों में हीन समझा जाता है।

२. समिति के सभी कर्मचारी अवैतनिक होते हैं और व्यय के प्रत्येक मद में मितव्ययिता बरती जाती है।

३. नीति-निर्धारण साधारण सभा द्वारा किया जाता है जिसका अनुशीलन प्रबन्ध समिति को करना पड़ता है।

४. ये समितियां, रेफीशन समितियों से आकार में बहुत छोटी होती हैं।

अन्य देशों के अनुभवः—सामान्यतया छोटे आकार की सहकारी प्रत्यय समिति बहुत ही कल्याणकारी सिद्ध हुई है। सदस्यों की पारस्परिक घनिष्ठता एवं परिचय आदि गुण, ऋण समय पर प्राप्त करने में तथा उन ऋणों का सदुपयोग करने में, बहुत हद तक सहायक सिद्ध हुए हैं। इनका प्रबन्ध बहुत सरल रहता है। व्यय कम रहता है तथा निरीक्षण नियमित रहता है। जर्मनी में प्रत्यय समितियों का आकार बहुधा अन्य देशों की अपेक्षा विस्तृत है।

कुछ देशों में प्रत्यय कार्य के साथ-साथ विपणन कार्य भी उसी समिति द्वारा सम्पन्न किया जाता है। जो लोग प्रत्यय समिति से रुपया उधार लेते हैं वे बहुधा अपनी निर्मित वस्तु या कृषि उपज विपणन समिति को विक्रय करने के लिये सौंप देते हैं, जिसमें से आसानी से कर्जा भी वसूल कर लिया जाता है। इस प्रकार प्रत्यय और विपणन दोनों कार्य साथ-साथ सम्पन्न होते रहते हैं और कर्ज भी समय पर चुका दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्यय समितियां जन-साधारण में रुपया जोड़ने की प्रवृत्ति पैदा

करने में काफी सहायक सिद्ध हुई हैं। कृषि प्रधान देशों में, प्रत्यय समितियों का कार्य कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने में काफी सहायक सिद्ध हुआ है। गरीब जनता को साहूकारों के चंगुल से बचाने के लिये यह आन्दोलन सफलतापूर्वक कार्य करता रहा है। किन्तु ऐसे देशों में, जहां कृषक के पास पर्याप्त साधन नहीं है और उसकी कृषि केवल अनार्थिक व्यवसाय सिद्ध होती रही है, जहां समय-समय पर व्यावसायिक चक्रों-कुचक्रों में पड़कर कृषक अपनी कृषि उपज बहुत कम दामों पर बेचते रहे हैं, उन देशों में बहुधा सहकारी प्रत्यय आन्दोलन में गतिरोध पाया गया है। यूरोप के देशों में कृषक अधिक साधन सम्पन्न हैं। उनकी कृषि प्रणाली आधुनिक है, इसलिये उन्हें जो रुपया उधार लेने की जरूरत पड़ती है वह बहुधा कृषि उत्पादन में सहायक सिद्ध होता है, जिससे उस ऋण का मूल और ब्याज दोनों ही चुकाने में सुविधा रहती है और कृषक की उपार्जन-शक्ति स्थायी रूप से बढ़ जाती है, किन्तु एशियायी देशों में स्थिति इससे विपरीत है...कृषक बहुधा पूर्वजों के वक्त से साहूकारों के ऋणी बने चले आते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें स्वयं भी अपने कृषि व्यवसाय के लिये, जो कि स्वभाव से ही बिलकुल अनिश्चित प्रवृत्ति का है, ऋणों की जरूरत पड़ती रहती है। उनकी जोत में जो भूमि रहती है वह बहुधा उनके परिवार के भार को वहन करने के लिये मुश्किल से ही पर्याप्त उपज प्रदान कर पाती है। इसलिये कभी भी उनकी प्रत्यय सामर्थ्य (credit-worthiness) नहीं बन पाती। प्रत्यय समितियां उस वक्त तक कदापि सफल नहीं हो सकतीं, जब तक उनके सदस्यों की प्रत्यय सामर्थ्य (credit-worthiness) न हो। ऋण लेने-देने का कार्य, अधिकोषण कार्य के अन्तर्गत आता है जहां केवल आदर्शवादिता ही काम नहीं देती, बल्कि ऋण याचकों की प्रत्यय सामर्थ्य भी देखी

जाती है, इसलिये यह प्रत्यय आन्दोलन एशियायी देशों में उतना सफल नहीं हो सकता, जितना यूरोप के देशों में हुआ है। इसके अतिरिक्त एशियायी देश अभी कुछ काल पूर्व तक विदेशियों के चंगुलों में फंसे हुए थे, इसलिये मानवीय आन्दोलन को राज्यों की ओर से राजकीय संरक्षण प्राप्त नहीं हुआ।

: ७ :

भारतवर्ष में सहकारिता प्रत्यय आन्दोलन

(Co-operative Credit Movement in India)

भारतवर्ष में सहकारिता आन्दोलन, सर्वप्रथम प्रत्यय क्षेत्र में प्रसारित किया गया। देश में, आज से ५० वर्ष पूर्व, कृषक वर्ग की आर्थिक दशा बहुत ही दयनीय थी। वे ऋण भार से दबे हुए थे और बहुधा जीवन पर्यन्त पैतृक ऋणों को चुकाने का अकथनीय प्रयास करते-करते अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते थे, फिर भी मरते समय पर ऋण-मुक्त न हो पाते थे। उस समय की स्थिति को देखते हुए एक विदेशी लेखक ने यहां तक कहा है कि 'भारतवर्ष में किसान के पुत्र को अपने पिता से उत्तराधिकार में, सम्पत्ति के स्थान पर पैतृक ऋण भार प्राप्त होता था'। भारतीय कृषकों की ऋणभार की चर्चा विस्तृत रूप से इसी अध्याय के अन्तर्गत आगे की गई है।

पैतृक ऋण भार किन कारणों से बढ़ता जा रहा था, उसके निवारण एवं रोकने के क्या उपाय हो सकते थे आदि आदि विषम प्रश्नों पर तत्कालीन विदेशी विशेषज्ञ कितनी गहरी पहुँच रख सकते थे, वह इस बात से ही विदित हो जाता है कि ये विदेशी साहब, वर्ष के अधिकांश महीनों में जनता के सम्पर्क से दूर, पहाड़ी स्थानों पर अथवा बड़े-बड़े नगरों में वैभव का जीवन व्यतीत करते फिरते थे। उन्हें किसानों के बीच उठने बैठने और उनकी समस्या को समझने का कभी अवसर प्राप्त

हुआ होगा, इस बात का कुछ भी प्रमाण नहीं है, फिर भी देश की तीन-चौथाई ग्रामीण जनता के भाग्य का निर्णय उनकी सिफारिशों के आधार पर उस समय कर दिया गया। सन् १८८२ में विलियम वेडर बर्न ने ग्रामीण ऋण समस्या का अध्ययन करके कृषिज अधिकोष योजना, कृषकों को ऋण देने के लिये, प्रस्तुत की। सरकार ने इस योजना को पूर्णतया स्वीकार नहीं किया, कुछ आंशिक रूप में स्वीकार करके भूमि सुधार एवं तकावी ऋण व्यवस्था के लिये, अधिनियम नं० १६ सन् १८८३ और नं० १२ सन् १८८४ स्वीकार किये। सन् १८९२ में सर फ्रेडरिक निकोलसन ने मद्रास प्रान्त में भू-अधिकोषों की स्थापना की सम्भावना के विषय में जांच की। उसी समय यू० पी० (आजकल का उत्तर प्रदेश) की राज्य सरकार ने इसी प्रश्न को हल करने के लिये श्री डूपरनैक्स को नियुक्त किया और उसने जन-अधिकोष (People's Bank) स्थापित करने की सिफारिश की। सन् १९०१ में भारतीय दुर्भिक्ष आयोग ने कृषिज अधिकोष, जो यूरोप के पारस्परिक प्रत्यय पार्षदों (Mutual Credit Associations) के आधार पर स्थापित करने की सिफारिश की। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी महानुभावों ने भू-अधिकोष, कृषिज अधिकोष और जन-अधिकोष आदि आदि संस्थाओं के द्वारा, भारत के शताब्दियों से पीड़ित कृषकों की समस्याओं का हल निकालने की कोशिश की। मैं इन विशेषज्ञों के विचारों को काफी मनन करने के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उन्होंने बहुत बड़ी भूल की। इन अधिकोषों के सुचारु रूप से कार्य करने के लिये परमावश्यक बात यह थी कि जिन कृषि-सदस्यों के सम्पर्क में अधिकोष आयेंगे वे प्रत्यय सामर्थ्य (credit-worthiness) वाले हों। इस आधारभूत तत्व की पूर्णतया अवहेलना की गई।

भारतवर्ष में अधिकांश किसान इतनी गरीब अवस्था में हैं कि उनके पास अपनी प्रत्यय सामर्थ्य सिद्ध करने के लिये कोई साधन नहीं हैं। आज से ५० वर्ष पूर्व जब प्रत्यय आन्दोलन प्रारम्भ किया गया था तब अधिकांश किसानों की दशा ऐसी थी। वे पैतृक ऋण भार से दबे हुए थे, भूमि पर उनका अधिकार नहीं था। सरकार और किसानों के बीच अनेकानेक मध्यग थे जो कि जी खोलकर उनका शोषण करते थे। उनके घरों में कुछ मन अन्न के दाने, एक गठरी फटे-पुराने कपड़े और आठ-दस मिट्टी या कांसे के बर्तन होते थे। सामान्य किसान के घर में न चांदी थी, न सोना था, न प्रत्ययभूतियां थीं, जिनके आधार पर वे कृषिज या भू-अधिकोषों से ऋण प्राप्त कर पाते।

क्या इन अधिकोषों का समर्थन करने वाले विशेषज्ञों ने सोच रखा था कि फटे-पुराने कपड़े, मिट्टी के कुछ बर्तन, अनार्थिक जोत (uneconomic holding) जिसमें कृषक का कृषिज अधिकार (tenancy right) भी न हो, अधिकोषों से कृषकों को कृषिज कार्य के लिये या स्थायी विकास के लिये या पैतृक ऋण के शोधनार्थ ऋण प्राप्त करने के लिये उपयुक्त प्रतिभूति थे? क्या कोई अधिकोष प्रत्यय सामर्थ्यविहीन कृषक को कभी ऋण दे सकेगा? क्या कोई अधिकोषण अधिनियम अथवा स्थापित सिद्धान्त, प्रत्यय सामर्थ्य के अभाव में, ऋण प्रदान करने की सिफारिश करता है? ऐसे गलत आधार पर दिये गये ऋणों के शोधन (redemption) का क्या आधार होगा? ऐसे अनेकों जटिल प्रश्न हैं जिन पर सम्भवतः कभी नहीं सोचा गया। इसलिये मेरे विचार में इस प्रकार की सिफारिशें बिलकुल भ्रमात्मक थीं और उनके आधार पर केंद्रीय एवम् राज्य सरकारों ने, जो प्रयास 'प्रत्यय आन्दोलन' के

प्रसार के लिये किये वे निरर्थक रहे। वह उनकी बड़ी भूल थी और वास्तव में सन् १९३१ के अवसाद काल ने उनकी भूल का प्रत्यक्ष प्रमाण भी प्रस्तुत कर दिया। डा. कुरेशी ने सन् १९४४ में, सहकारिता विषयक अपने अनुसंधान के दौरान में, इस बात का पूर्णतया स्पष्टीकरण कर दिया है कि भारतवर्ष में सहकारिता प्रत्यय आन्दोलन पूर्णतया असफल रहा और इसका भविष्य अनिश्चयात्मक है। मैं भी स्वयं इस बात को अनुभव करता हूँ कि हमने प्रत्यय समितियों को आधार मानकर वास्तव में भूल की थी, अधिक उत्तम रहा होता यदि भारतवर्ष में सहकारी कृषि-व्यवस्था का कोई प्ररूप आधार बनाया गया होता।

सर एडवर्ड लॉ की अध्यक्षता में, जो कि उस समय भारत सरकार के अर्थ-सचिव थे, भारत सरकार ने एक समिति, उपर्युक्त विशेषज्ञों की कृषि व्यवस्थाओं का अध्ययन करके, भारतवर्ष में सहकारिता संगठन स्थापित करने के लिए उचित सुझाव देने के लिये नियुक्त की। इस समिति की सिफारिश के आधार पर ही भारतीय सहकारिता अधिनियम १९०४ स्वीकृत किया गया। इस अधिनियम के स्वीकार किये जाने से भारतवर्ष में प्रत्यय समितियों का प्रादुर्भाव हुआ। सन १९०४ से लगातार १९३८–३९, द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होते तक, इन समितियों का भारतवर्ष के सहकारिता आन्दोलन में बहुत ऊंचा स्थान रहा। १९३५–३६ से लगभग ८५ प्रतिशत समितियां प्रत्यय समितियों के वर्ग की थीं। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व, कृषि क्षेत्र में ७७.७ प्रतिशत और अकृषि क्षेत्रों में ५.५ प्रतिशत, इस प्रकार कुल ८३.२ प्रतिशत समितियां प्रत्यय वर्ग की थीं। शेष १.८ प्रतिशत समितियां अन्य वर्गों की थीं। युद्ध समाप्त होते होते, सन् १९४५–४६ में, स्थिति में कुछ परिवर्तन

आया। कृषि क्षेत्र में, प्रत्यय समितियों की संख्या ५ प्रतिशत कम हो चुकी थी। इस प्रकार ७२.७ प्रतिशत कृषिज क्षेत्र में, और ४.४ प्रतिशत अकृषिज क्षेत्र में, कुल मिलाकर ७७.१ प्रतिशत प्रत्यय-समितियां रह गयीं थीं।

युद्ध-काल में सहकारिता आन्दोलन, प्रत्यय क्षेत्र से निकल कर दूसरे अन्य क्षेत्रों में भी सफलतापूर्वक कार्य करने लगा। सहकारिता क्षेत्र में, स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व प्रत्यय का बोलबाला था, यद्यपि दिनोंदिन प्रभाव कम होता जा रहा था। दूसरे वर्ग की समितियां दिनोंदिन संख्या में बढ़ती जा रही थीं, किन्तु प्रत्यय समितियों सम्बन्धी निम्न प्रदर्शित आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी संख्या में निरंतर अभिवृद्धि हो रही थी।

वर्ष	प्रत्यय समितियों की संख्या (लाखों में)	सदस्य संख्या (लाखों में)	निजी पूंजी (लाखों में)
१९३८-३९	९.३८	३६	४००
१९३९-४०	१०.१४	४१	४१०
१९४०-४१	१०.४१	४३	४१०
१९४१-४२	१०.९६	४६	४२०
१९४२-४३	११.०६	४५	४५०
१९४३-४४	११.५२	४८	४९०
१९४४-४५	११.५८	५०	५२०
१९४५-४६	१२.४२	५५	५९०

उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतवर्ष में सहकारिता समितियों की संख्या यद्यपि लाखों में है, किन्तु

उनकी सदस्यता यदि करोड़ों में नहीं है तो अवश्य ही इस आन्दोलन के पीछे जन-शक्ति उतनी मात्रा में नहीं है जितनी होनी चाहिये थी। द्वितीय महायुद्ध ने इन समितियों के महत्व को और भी कम कर दिया है, क्योंकि अब देश में एक उद्देश्यवाली समितियों के स्थान पर बहुप्रयोजन समितियों का बोलबाला है। निम्न प्रदर्शित तालिका से सन् १९४६-४७ से सन १९५१-५२ तक का विकास स्पष्ट हो जाता है :—

वर्ष	समितियों की संख्या, कृषि-क्षेत्र में (संख्या हजारों में)	समितियों की संख्या, अकृषि-क्षेत्रों में (संख्या हजारों में)
१९४६-४७	—	—
१९४७-४८	८५.२६	६.५१
१९४८-४९	११२.३४	७.०३
१९४९-५०	११६.५३	७.५३
१९५०-५१	—	—
१९५१-५२	—	—

प्रत्यय समिति का संगठनः - भारतवर्ष में प्रत्यय समितियों ने रैफीशन मॉडल को अपनाया है। इन समितियों का संगठन बहुत ही सरल होता है। प्रारम्भ में कोई भी १० ग्रामीण व्यक्ति मिल कर कृषिज प्रत्यय समिति का निर्माण कर सकते हैं। यह प्रारंभिक प्रत्यय समिति होगी। १८ वर्ष से अधिक आयु वाले व्यक्ति के लिये इसकी सदस्यता का द्वार खुला होता है, जो उस क्षेत्र में निवास करता हो और जिसका आचरण अच्छा हो। बहुधा प्रत्येक प्रारम्भिक समिति की सदस्यता की संख्या सैकड़ों तक ही रहती है, हजार या लाखों में नहीं जाती। उसका कार्य-क्षेत्र भी

साधारणतया एक ही ग्राम तक सीमित होता है। लगभग सभी सदस्य एक दूसरे से परिचित होते हैं और एक दूसरे की आर्थिक स्थिति को भलीभांति जानते हैं।

समिति के सदस्यों का दायित्व असीमित होता है। असीमित दायित्व का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि जब किसी समिति के उत्तमर्ण (creditors) समिति के उपलब्ध साधनों से पूर्णतया शोधन नहीं किये जा सकते तो सदस्यों की व्यक्तिगत सम्पत्तियों में से शोधन किये जाते हैं। इस प्रकार इन समितियों के प्रत्येक सदस्य को समिति की सुचारु व्यवस्था के लिए सतर्क रहना पड़ता है। यदि प्रत्येक सदस्य अपने अन्य साथियों के संबंधित कार्यों पर ध्यान दे और यह समझता रहे कि किसी भी समय समिति के किसी एक भी सदस्य की भूल, न केवल उसके अंश तक ही सीमित रहेगी, बल्कि वह व्यक्तिगत सम्पत्ति में से भी दायित्व शोधन करने के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है ,तो निश्चित ही वह समिति के कार्यों में अधिक दिलचस्पी लेगा। इसके अतिरिक्त उत्तमर्णों की दृष्टि में समिति का मान विशेष ऊंचा रहता है, क्योंकि उन्हें तो अपने ऋणों के पूर्ण शोधन का साधन प्राप्त हो जाता है।

जहां एक ओर इस असीमित दायित्व का उपयुक्त लाभ हैं वहां दूसरी ओर उसके कुछ बड़े दोष भी हैं। सबसे प्रमुख दोष यह है कि सम्पन्न व्यक्ति बहुधा इन समितियों के सदस्य बनना कदापि स्वीकार नहीं करते, क्योंकि उन्हें अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति में से समिति के अशोधित दायित्वों के शोधन का भय बना रहता है।

समिति के पास निम्नलिखित साधनों से आवश्यकीय धन प्राप्त होता है:—

(१) सदस्यता शुल्क। (२) अंश पूंजी। (३) संचिति प्रणीवि। (४) योगदान (contributions)। (५) निक्षेप (deposits)। (६) ऋण (loans)।

इन धन राशियों से समिति के सदस्यों को आवश्यकता पड़ने पर ऋण दिये जाते हैं। ऋणों का लक्ष्य मुख्यतया उत्पादक होना चाहिये, किन्तु भारतीय अधिनियम के अन्तर्गत पैतृक ऋणों के शोधनार्थ और दैनिक गृहस्थी व्ययों के लिए भी ऋण दिये जा सकते हैं। बहुधा ऋण अल्पकालीन होते हैं, किन्तु उनकी अवधि, उनके उद्देश्य के साथ भिन्न-भिन्न हो सकती है। कृषि कार्यों के लिये ऋण की अवधि ६ माह से लेकर एक साल, भूमि में स्थायी सुधार के लिये जो ऋण लिये जाते हैं उनकी अवधि ३ साल से ५ साल तक होती है। ऋण देते समय सदस्य का आचरण अवश्य देखना पड़ता है। बहुधा भारतीय कृषकों के पास, प्रत्यय सामर्थ्य (credit-worthiness, का अभाव रहता है। इसलिये वे कोई ठोस प्रतिभूतियां (substantial securities) नहीं दे पाते। उनका व्यक्तिगत आचरण और परिश्रमी होना ही ऋण-स्वीकृति के लिये आधार मानना पड़ता है। एक आने की रेवेन्यू टिकट पर ऋण लेनेवाले से रुपया प्राप्ति की रसीद ले ली जाती है। इसके अतिरिक्त कोई प्रलेख, बहुधा इन समितियों को नहीं रखना पड़ता। समिति की लेखा-पुस्तकें न्यायालय द्वारा प्रमाण स्वरूप स्वीकृत की जाती हैं। ब्याज की दर बहुधा कम रहती है, लेकिन फिर भी दूसरे देशों की अपेक्षा काफी ऊंची है।

रफीशन मॉडल की प्रत्यय समितियां अपने सदस्यों को कोई लाभ वितरण नहीं करतीं। लाभ की राशि संचिति की ओर स्थानान्तरित कर दी जाती है। सार्वजनिक उपयोगिता के कार्यों के लिये, जैसे शिक्षा प्रसार, सहकारिता के विचारों का प्रसार आदि आदि के लिये, लाभ में से कुछ राशि व्यय कर दी जाती है

व्यवस्था:—इन समितियों की व्यवस्था प्रजातांत्रिक आधारों पर अवलम्बित है। प्रत्येक सदस्य अवैतनिक कार्य करता है। हर एक सदस्य को चाहे उसके पास समिति के कितने ही अंश क्यों न हों, उसे एक मत (one vote) देने का ही अधिकार रहता है। प्रबन्ध कार्य व्यवस्थापिका सभा के हाथ में होता है। व्यवस्थापिका सभा के सदस्य समिति के सम्पूर्ण सदस्यों में से चुने जाते हैं। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण सदस्यों की एक सामान्य सभा होती है, जिसकी बैठक समय-समय पर बुलाई जाती है। इस सामान्य सभा द्वारा समिति की कार्य नीति निर्धारित की जाती है। इसके प्रतिपालन करने का कार्य भार व्यवस्थापिका सभा पर होता है, जिसमें बहुधा ५ से लेकर ९ सदस्य होते हैं।

समिति के कार्य का वार्षिक अंकेक्षण (परीक्षण) सहकारी समितियों के पंजीयक द्वारा, नियुक्त विभागीय अंकेक्षक द्वारा प्रतिवर्ष किया जाता है। कुछ प्रान्तों में अंकेक्षण व्यय सहकारिता विभाग द्वारा बिलकुल नहीं लिये जाते और कुछ प्रान्तों में, प्रारम्भ में कुछ वर्षों तक, जब तक समिति सुचारु रूप से कार्य नहीं करने लगती, तब तक नहीं लिये जाते। प्रत्येक समिति के ऊपर, निरीक्षण यूनियन (supervising union) का निरीक्षण रहता है। इसके अतिरिक्त, विभागीय निरीक्षक (inspector) भी समय-समय पर जांच करने के लिये आते रहते हैं।

प्रगति:—१९५१ के आंकड़ों के अनुसार भारतवर्ष की सम्पूर्ण जनसंख्या का ८२.७ प्रतिशत भाग ग्रामीण है। कुल ३५.६८ करोड़ जनसंख्या है। उपर्युक्त आधार पर, इसलिये २९.५ करोड़ जन संख्या ग्रामीण हुई। कृषि प्रत्यय समितियों की कुल संख्या

को, यदि इस ग्रामीण जनसंख्या के साथ तुलना करके देखें, तो प्रति दो हजार व्यक्तियों के पीछे एक समिति पड़ती है। समितियों की कुल सदस्य संख्या सन् १९५०-५१ के आंकड़ों के अनुसार ५२ लाख थी। समितियों की संख्या को सदस्य संख्या से इस प्रकार विभाजित करके, औसत सदस्य संख्या प्रति समिति केवल ४२ व्यक्ति आती है। इस प्रकार प्रति दो हजार व्यक्तियों में ४२ सहकारी समितियों के सदस्य हैं और शेष १९५८ व्यक्ति सदस्य नहीं हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रत्यय समितियों की संख्या १ लाख १६ हजार होते हुए भी देश के विस्तार और कृषक जन-संख्या को देखते हुए अपर्याप्त है और उनके द्वारा प्रत्येक कृषक की अर्थ-आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती। विभिन्न प्रान्तीय अधिकोष जांच समितियों ने भी इस प्रश्न पर जांच की है कि कहां तक सहकारी समितियां, देश के कृषकों की कृषिज अर्थ-व्यवस्था पूर्ण करने में समर्थ हो सकी हैं। उन सबने लगभग एक ही जैसा निर्णय दिया है। इन्होंने लगभग ६ प्रतिशत कृषकों को सहायता प्रदान की है। बाकी अर्थ-व्यवस्था, साहूकारों, भूपतियों और राज्य सरकारों द्वारा की जाती है। इस प्रकार एक अर्ध-शताब्दी के उपरांत भी, प्रत्यय पक्ष को सुलझाने में असमर्थ रही हैं।

इसके अतिरिक्त यदि हम उनकी कार्यवाही पर कार्यशीलता के स्तर (efficiency standard) से गौर करें, तो हम देखते हैं कि केवल १.७ प्रतिशत समितियां "ए" वर्ग में, ९.१ प्रतिशत "बी" वर्ग में, ५१.७ प्रतिशत "सी" वर्ग में, १८.९ प्रतिशत "डी" वर्ग में और १८.६ प्रतिशत उससे भी हीन अवस्था में हैं। अंकेक्षण विभाग (Audit Department) द्वारा ये वर्गीकृत की गई "ए" एवम् "बी" वर्ग की समितियां ही, जो केवल १०.८ प्रतिशत आती हैं, उत्तम कही जा

सकती हैं, बाकी अन्य समितियां कुछ डांवाडोल और अनिश्चित अवस्था ही में, अपनी जीवन लीला खींचती जाती हैं।

इन समितियों की आर्थिक सुदृढ़ता के विषय में, हम उनके निक्षेपों, संचितियों एवं प्रदत्त ऋणों के आधार पर भी अनुमान लगा सकते हैं। सन् १९५०–५१ में इन प्रत्यय समितियों में कुल कार्यवाहक पूंजी ४०.९ करोड़ थी और इनकी निजी पूंजी १६.५ करोड़ थी तथा जन-निक्षेप ६.४ करोड़ थी। यूरोप के देशों की तुलना में, जबकि हम एक ओर देखते हैं कि बहुत से यूरोप के देशों का क्षेत्रफल और जनसंख्या बहुत मुश्किल से हमारे किसी एक प्रान्त के ही बराबर है और दूसरी ओर वहां सहकारिता प्रत्यय समितियों की निजी पूंजी और जन-निक्षेप हमारे सम्पूर्ण देश के आंकड़ों से भी अधिक देखने में आते हैं, तो हमें बड़ी ग्लानि पैदा होती है। इसके अतिरिक्त हमारे देशवासियों में, समय पर रुपया लौटाने के और समिति के प्रति अपने कर्तव्यों को पूरा करने के कोई लक्षण प्रतीत नहीं होते। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व, इन समितियों के १४.५ करोड़ रुपये के कर्जे बकाया पड़े थे। युद्धकाल के दौरान में, जब किसानों को अपनी फसल का प्रतिफल उचित मिला है तो स्थिति कुछ सुधरती आयी। सन् १९४५–४६ में युद्ध समाप्ति के अवसर पर ८.५२ करोड़ रुपया, अवधि के बाद भी, बकाया था। इन आंकड़ों में प्रान्तीय एवं केंद्रीय सहकारी अधिकोषों के आंकड़े सम्मिलित नहीं किये गये हैं। इस दिशा में आज भी स्थिति काफी संतोषजनक है। सन् ५०-५१ में केवल ६.३७ करोड़ रुपया अवधि के बाद भी अदत्त था।

प्रत्यय समितियों के दोषः—भारतवर्ष की प्रत्यय समितियों के प्रमुख दोष संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१. ये समितियां नियमित समय पर कार्य नहीं करतीं। इनके काम करने के तरीके बहुत ही अजीब और लापरवाही से ओतप्रोत होते हैं।

२. समिति के सदस्य और उसके कर्मचारी समिति के कार्य में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं लेते। बहुधा उनकी दिलचस्पी उसी समय तक रहती है जब तक कि उन्हें समिति से ऋण नहीं मिल जाता। तदुपरान्त वे समिति के कार्यों से उदासीन पाये जाते हैं।

३. सहकारिता के उच्च आदर्शों की अनभिज्ञता बहुधा पाई जाती है। इस बात का स्पष्ट उदाहरण इसी से ज्ञात हो जाता है कि सहकारी प्रत्यय समितियों में जो व्यक्ति सदस्य हैं, उनमें आज ५० वर्ष के बाद भी धन बचाने की प्रवृत्ति नहीं पैदा हो पाई है, क्योंकि सन १९५०–५१ में केवल ६.४ करोड़ रुपया इन समितियों में जन-निक्षेप के रूप में जमा था।

४. समिति की कार्य-व्यवस्था बहुधा एक दो व्यक्तियों के हाथ में चली जाती है, जो अपने अन्य साथियों की अपेक्षा कुछ अधिक उत्साही होते हैं। कालान्तर में ये व्यक्ति सत्ता का दुरुपयोग करने लगते हैं और समिति में नया जोश आना बन्द हो जाता है।

५. कुछ समितियों में तो यह भी देखने में आया है कि ऋण अशोधित चलते रहते हैं, किन्तु समिति की लेखा-पुस्तक में शोधित दिखा दिया जाता है और पुनः नूतन ऋण उसी व्यक्ति को प्रदत्त दिखा दिया जाता है। जबकि वास्तविक स्थिति यह रहती है कि न तो पूर्व ऋण की राशि प्राप्त हुई थी और न कोई

नूतन ऋण दिया गया था; केवल अंकेक्षक को धोखा देने के उद्देश्य से लेखा पुस्तकों में पूर्व ऋण को शोधन दिखाकर नवीन ऋण दिखा दिया जाता है।

६. बहुत सी समितियों के विषय में तो यहां तक देखने में आया है कि वे ज़रूरत के समय पर रुपया आहरण की सुविधा प्रदान नहीं करतीं। इसी प्रकार ऋण आवेदनकर्त्ताओं को भी ज़रूरत पर ऋण प्राप्त नहीं होता और बाद में जब उनको जरूरत नहीं होती तब उन्हें ऋण मिलता है, जिसका वे दुरुपयोग करते हैं।

प्रत्यय समितियों की वर्तमान स्थिति:—भारतवर्ष में प्रत्यय समितियों की संख्या अन्य सब प्रकार की समितियों से अधिक है। १८१ हजार समितियों में से १२३ हजार प्रत्यय समितियां हैं। लगभग ४५ प्रतिशत समितियां केवल तीन प्रान्तों—बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में हैं। इन तीनों प्रान्तों में प्रत्यय आन्दोलन ने उत्तम परम्पराएं स्थापित कर ली हैं तथा राज्य सरकारों की ओर से भी पर्याप्त सहायता इन समितियों को मिली है। शासन के पदाधिकारी भी समितियों के नियंत्रण में काफी कार्य-कुशलता दिखा रहे हैं। उनके प्रयासों से जो जन-जागृति का आभास मिल रहा है, उससे सहकारिता के उज्ज्वल भविष्य के विषय में विश्वास पैदा होता है। द्वितीय महायुद्ध काल में कृषि उपज के विकास में इस आन्दोलन ने काफी सहायता प्रदान की है। ऋणों पर ब्याज की दर काफी कम रही है। मद्रास प्रान्त में ६$\frac{1}{4}$ प्रतिशत और बम्बई प्रान्त में ७ प्रतिशत ब्याज की दर पाई जाती है। कुछ पिछड़े हुए क्षेत्रों में इस आन्दोलन को प्रचलित करने के लिये राज्य सरकारों ने अनुदान भी प्रदान किये हैं, जिसके बल पर उन क्षेत्रों में

ब्याज की दर और भी कम रखी जा सकी। युद्ध समाप्ति के उपरान्त आज प्रत्यय समितियों के समक्ष यह समस्या है कि किस प्रकार वे अपने कोषों (funds) का उपयोग करें। कुछ व्यक्तियों ने यह सुझाव दिया है कि सयंत्र कृषि के लिये आवश्यकीय कर्ज़े इन समितियों द्वारा प्रदान किये जायें, किन्तु इस दिशा में सबसे बड़ी कठिनाई इस बात की आती है कि सामान्य कृषक की प्रत्यय सामर्थ्य (credit-worthiness) इतनी नहीं है कि उसको १०, १२ हजार रुपया ट्रैक्टर आदि खरीदने के लिये कर्ज दिया जा सके। इतने भारी कर्जों को अल्पसाधन और बचत-विहीन कृषकों से वसूल करना दुर्लभ हो जायेगा। इसके विपरीत यदि प्रत्यय समिति स्वयं यंत्र खरीदकर कृषक को किराये पर उपलब्ध करे तो वह अपने निर्धारित कार्यक्षेत्र का उल्लंघन करती है, जो कि वर्तमान अधिनियम के अन्तर्गत प्रत्यय समिति के लिये अवैध है। उत्तर प्रदेश में प्रत्यय समितियों को, कृषि उपज के विपणन कार्य और नगरों में उपभोक्ता भण्डारों के साथ संबंधित किया जा रहा है। इस प्रकार उन्हें धीरे-धीरे बहुप्रयोजन समितियों (multi-purpose societies) में परिणित करने की योजना है। मध्यप्रदेश में भी कुछ दिन पूर्व, सम्पूर्ण उद्देश्य वाली समितियां (all-purpose societies) स्थापित करने की योजना निकाली है, जिसके अनुसार प्रारम्भिक प्रत्यय समितियों को नवीन कार्यक्षेत्र मिल रहा है। पंजाब, विभाजन से पूर्व, सहकारिता के क्षेत्र में काफी अग्रगण्य गिना जाता था, किन्तु विभाजन के कारण सहकारिता आन्दोलन को उस प्रान्त में काफी धक्का पहुंचा है। सहकारी प्रत्यय समितियों के बहुत से कर्जदार विभाजन के वक्त बिना कर्जा चुकाये ही पाकिस्तान चले गये। इसके अतिरिक्त बहुत सी प्रत्यय समितियों के सदस्य पाकिस्तान वाले क्षेत्र से पूर्वी पंजाब (भारतीय

खण्ड) में चले आये, किन्तु उनके निक्षेप आदि पाकिस्तान वाले क्षेत्र में ही रह गये, जिनके मिलने में अभी तक कठिनाई हो रही है।

रिजर्व बैंक आफ इंडिया द्वारा सहायता

रिजर्व बैंक आफ इंडिया प्रारम्भिक प्रत्यय समितियों को प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक मदद नहीं कर सकता, किन्तु वह प्रान्तीय सहकारी अधिकोषों को ६ महीने के कृषि विपत्रों का पुनः पूर्व प्रापण करके प्रान्तीय अधिकोषों को इस स्थिति में ला देता है कि वे केंद्रीय सहकारी अधिकोषों को काफी मात्रा में आर्थिक सहायता प्रदान कर पाते हैं। ये केंद्रीय सहकारी अधिकोष पुनः उस आर्थिक सहायता के बल पर सहकारी प्रत्यय समितियों को अग्रिम (advance) काफी मात्रा में दे पाते हैं। इस प्रकार परोक्ष रूप से रिजर्व बैंक आफ इंडिया द्वारा सहकारी प्रत्यय समितियों को काफी मदद पहुँचती है।

इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक आफ इंडिया सहकारिता संबंधी आवश्यकीय आंकड़े प्रकाशित करता है। अपने अनुसंधान विभाग के अन्तर्गत दूसरे देशों के सहकारिता आन्दोलनों के अध्ययन के आधार पर भारतीय परिस्थितियों में उन प्रयोगों को सफलतापूर्वक प्रारम्भ करने में मार्ग दर्शन करता है।

प्रत्यय समितियों के दायित्वों के विषय में वाद-विवाद

प्रत्यय समितियों का दायित्व तीन प्रकार का हो सकता है :

१. अंशों द्वारा सीमित।

२. असीमित।

३. प्रत्याभूति द्वारा सीमित।

भारतवर्ष में कृषि-प्रत्यय समितियों के लिये केवल असीमित दायित्व, भारतीय सहकारिता अधिनियमों के अन्तर्गत मान्य है। इसके समर्थन में निम्नलिखित कारण दिये जाते हैं :

रिजर्व बैंक आफ इंडिया का तो यहां तक विचार है कि असीमित दायित्व भारतवर्ष के लिये नितान्त आवश्यक है और इसके विपरीत अन्य कोई विकल्प (option) नहीं है।

१. असीमित दायित्व द्वारा बाहर वालों से समितियों को धन प्राप्त करने में सुविधा रहती है।

२. असीमित दायित्व का काफी शिक्षाप्रद प्रभाव पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक सदस्य को सहकारी प्रत्यय समिति के कार्य में असीमित दायित्व वहन करने का भय बना रहता है। प्रत्येक सदस्य इसलिये समिति के कार्यों के विषय में काफी सतर्क रहता है।

३. असीमित दायित्व के कारण समितियों में धनाढ्य व्यक्तियों का समावेश नहीं होने पाता, जिसके कारण वे धनवानों के हाथों की कठपुतली नहीं बनतीं।

४. गत ५० वर्षों के दीर्घ अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि असीमित दायित्व के कारण विषम से विषम अवसाद काल का भी और द्वितीय महायुद्ध जैसे उत्कर्ष काल का भी समितियां मुकाबला कर जाती हैं, इसलिये इसका परिवर्तन करना इसके समर्थकों के विचार में असंगत होगा।

असीमित दायित्व के दोष:—असीमित दायित्व का सबसे बड़ा दोष यह रहा है कि सम्पन्न व्यक्ति, जिनके पास कुछ धन सम्पत्ति है, इस आन्दोलन में सम्मिलित नहीं हुए, क्योंकि उन्हें सदैव यह भय रहता है कि उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति समिति के दायित्वों के शोधनार्थ काम में लाई जा सकती है। इस कारण

इस आन्दोलन ने अर्थ-बल की कमी के कारण जन-बल पर्याप्त होते हुए भी समाज एवं देश का उतना हित नहीं किया है जितना कि इस आन्दोलन से आशा की जाती थी। इसके अतिरिक्त असीमित दायित्व का अर्थ भलीभांति नहीं जाना जा सकता है जब तक कि उनके ऊपर भार नहीं आ पड़ता।

असीमित दायित्व के दोषों के निवारणार्थ निम्नलिखित सुझाव काम में लाये जा सकते हैं :—

१. प्रत्येक समिति के प्रत्येक सदस्य की हैसियत ज्ञात की जाय और इस हैसियत के आधार पर उसको जितना अधिकतम ऋण दिया जा सकता है उसकी सीमा निर्धारित कर दी जाय। हैसियत संबंधी आंकड़े परिवर्तित परिस्थिति के अनुसार संशोधित कर लिये जायं।

२. समिति की सामान्य सभा द्वारा, बाहरवालों से जो अधिकतम ऋण लिया जा सकता है उसकी सीमा पूर्व निश्चित कर देनी चाहिये।

३. प्रत्येक प्रत्यय समिति को पर्याप्त संचिति निर्माण करनी चाहिये। इस संचिति में से लाभांश आदि घोषित न किया जाय बल्कि प्रतिवर्ष के लाभ की अधिकतर राशि इसी मद में स्थानान्तरित करनी चाहिए। समिति में नये सदस्यों की प्रविष्टि काफी जांच पड़ताल के बाद की जानी चाहिए। उसके आचरण, सच्चाई और हैसियत के विषय में आवश्यकीय जांच कर लेनी चाहिए। इसके पश्चात् उसे प्रविष्ट कर दिया जाय। इन समितियों की आर्थिक स्थिति की सुदृढ़ता के उद्देश्य से समिति की अंश पूंजी पर्याप्त रखी जाय और प्रत्येक अंश एक या दो रुपये का न रख कर २५ रु० या ५० रु० का रखा जाय।

४. असीमित दायित्व जिन क्षेत्रों में समितियों की प्रगति में बाधक सिद्ध हो रहा हो, उन क्षेत्रों में प्रत्याभूति द्वारा सीमित दायित्व (limited liability) के सिद्धांत को अपना लिया जाय।

५. समितियों के सदस्यों को सहकारिता आन्दोलन के सिद्धांत से भलीभांति परिचित कराया जाय, इसके लिये प्रादेशिक भाषा में पर्याप्त साहित्य प्रकाशित कराया और सदस्यों को भी मुफ्त वितरित किया जाय।

प्रत्यय सहकारिता आन्दोलन का पुनर्संगठन

सहकारिता आन्दोलन को भारतवर्ष में प्रारम्भ करते समय इसके प्रवर्त्तकों ने उससे बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाई थीं। ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के उत्थान हेतु और विशेषरूप से कृषि प्रत्यय समस्या के निवारणार्थ उसे एक अचूक औषधि समझा था। किन्तु उनके स्वप्न आज तक सत्य नहीं हो पाये। इस आन्दोलन के गर्भ में छिपी हुई सामर्थ्य के विषय में किसी को शंका नहीं है, किन्तु जो वर्तमान हालत हम अपने देश में इस आन्दोलन की देख रहे हैं उससे कोई विशेष जन-हित की आशा नहीं है, जब तक उस स्थिति का गहन अध्ययन करके इस आन्दोलन के पुनर्संगठन का कार्य दृढ़ता एवं सतर्कता के साथ न किया जाय। सन् १६४६ में ग्रामीण अधिकोष जांच समिति ने इस आन्दोलन के सामर्थ्य के विषय में पुनः एक बार विश्वास प्रगट किया है, किन्तु पुनर्संगठन के जो सुझाव सहकारिता संयोजना समिति ने सन् १६४६ में दिये थे उनके अनुसार शीघ्रताशीघ्र कार्य करने की आवश्यकता। सहकारिता संयोजना समिति के पुनर्संगठन संबंधी सुझाव संक्षेप में निम्नलिखित हैं :

१. सहकारी समितियों के पास गिरवी रखी हुई जप्त सम्पत्तियां उन किसानों को वापस लौटा दी जांय और उनके अदत्त ऋणों की राशि की शोधन सामर्थ्यानुसार किस्तें बांध दी जांय।

इस दिशा में कुछ प्रान्तों में द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त काफी संतोषजनक प्रगति हुई है। अदत्त ऋणों की जांच करके उनको इतना कम कर दिया जाता है कि वे समिति के सदस्य द्वारा चुकाये जा सकते हैं। इस अवसर पर सदस्य की हैसियत और जायदाद का पूरा-पूरा ख्याल रखा जाता है। शेष रकम को किस्तों में बांट दिया जाता है, जिन्हें सदस्य धीरे-धीरे चुका देते हैं। कृषकों की जप्त जमीनें उन्हें वापस कर दी जाती हैं।

२. समितियों द्वारा कृषकों की सम्पूर्ण अल्पकालीन अर्थ-आवश्यकताओं की पूर्ति की जानी चाहिए और यदि सम्भव हो सके तो दीर्घकालीन आवश्यकताओं के लिये भी अर्थ उपलब्ध कर सकती हैं।

दीर्घकालीन आवश्यकताओं के लिये ऋण केवल उसी दशा में दिये जाँय, जबकि उस क्षेत्र में कोई भूमि रहन अधिकोष कार्य न कर रहा हो।

३. इन समितियों की प्रगति में यदि असीमित दायित्व बाधक सिद्ध हो रहा हो, तो प्रत्याभूति दायित्व या सीमित दायित्व पद्धति में से परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन कर लिया जाय।

४. ऋणों के प्रदान करने में बिलकुल देर नहीं होनी चाहिए, लेकिन ऋण केवल उसी वक्त दिये जांय जब उनकी आवश्यकता हो।

५. ऋणों के समय पर नियमित रूप से शोधन करने पर बहुत जोर दिया जाय।

६. बहुधा किसानों को ऋण उनकी व्यक्तिगत जिम्मेदारी पर दिये जांय। जमीन जायदाद रहन रखने की अपेक्षा उस वर्ष की खड़ी फसल सहायक प्रतिभूति के रूप में स्वीकार की जा सकती है।

७. प्रत्यय समितियों द्वारा कृषिज ऋणों पर ब्याज की दर और कम देनी चाहिए। यह तभी सम्भव हो सकता है जबकि रिजर्व बैंक आफ इंडिया, प्रान्तीय सहकारी अधिकोष एवं केंद्रीय अधिकोष अपनी कार्य-क्षमता में सुधार कर लें।

८. रिजर्व बैंक आफ इंडिया द्वारा कृषि-ऋणों के लिये जो नयी सुविधाएँ दी गई हैं, उनका पूरा-पूरा लाभ उठाया जाय।

९. प्रत्यय समितियों का संबंध विपणन समितियों के साथ कर दिया जाय, जिससे कृषकों को अपनी उपज का उपयुक्त मूल्य प्राप्त हो सके और उनकी आर्थिक दशा सुधर जाय।

१०. समितियों द्वारा ऋण लेनेवालों पर ऋण राशि के उत्पादक कार्यों में लगाये जाने के बारे में काफी सतर्कता निभायी जाय।

इस प्रकार इनका पुनर्जीवन हो सकता है।

: ८ :

केंद्रीय अधिकोष

गत अध्याय में ग्रामीण और नगर प्रत्यय समितियों की चर्चा की गई है। सन् १९०४ में जबकि भारतवर्ष में सहकारिता संबंधी प्रथम अधिनियम स्वीकृत किया गया था, तो उसमें केवल इन्हीं दो वर्ग की (नगर एवं ग्रामीण) प्रत्यय समितियों के निर्माण किये जाने की व्यवस्था थी, किन्तु कुछ काल के बाद ही यह अनुभव होने लगा कि इन प्रत्यय समितियों का कार्य पूर्णतया स्वावलम्बी नहीं है, इसलिए उन्हें आर्थिक सहायता, अन्य केंद्रीय संस्थाओं से दिलाना अति आवश्यक है, इसलिये सन् १९१२ में जो दूसरा सहकारी अधिनियम स्वीकृत किया गया, उसमें ऐसी केंद्रीय संस्थाओं के स्थापित करने का भी आयोजन किया गया, जो कि नगर एवं ग्राम प्रत्यय समितियों को समय-समय पर उनकी आवश्यकतानुसार आर्थिक सहायता दे सकें। इसके अतिरिक्त उन विभिन्न समितियों के बीच पारस्परिक समन्वय, उचित नियंत्रण तथा सहकारिता के सिद्धांतों का समान अनुशीलन किया जा सके।

केंद्रीय सहकारी अधिकोषों ने प्रारम्भ से ही अधिकोषण संबंधी उन सुदृढ़ सिद्धांतों का पालन किया है जो कि उन्हें दिनोंदिन सुदृढ़ बनाते चले गये और इसके साथ-साथ सहकारिता प्रत्यय आन्दोलन को दिनोंदिन आर्थिक योग दान मिलता रहा। गत अध्याय में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं

कि बहुधा धनाढ्य व्यक्ति असीमित दायित्व के भय से भाग नहीं लेते थे और इसलिये प्रत्यय समितियां ऋण मांगनेवालों की समितियां ही बनकर रह जाती थीं। उनका असली प्राण तो वह धन था, जो कि उन्हें इन केंद्रीय अधिकोषों से कृषकों को आर्थिक सहायता पहुँचाने के लिये प्राप्त होता रहा है।

केंद्रीय अधिकोषों के प्रकार :—केंद्रीय सहकारी अधिकोष तीन प्रकार के होते हैं —

१. वे केंद्रीय अधिकोष, जिनके सदस्य केवल व्यक्ति ही होते हैं।

२. वे केन्द्रीय अधिकोष, जिनके सदस्य केवल सहकारी समितियां ही होती हैं।

३. वे केन्द्रीय अधिकोष, जिनके सदस्य व्यक्ति और सहकारी समितियां दोनों ही होते हैं।

प्रथम प्रकार के अधिकोषों में समितियों को सदस्यता प्राप्त नहीं होती, जिसके अभाव में सहकारिता समितियों के बीच पारस्परिक समन्वय एवं समान नीति का अभाव रहता है। इसके विपरीत दूसरे वर्ग के केंद्रीय अधिकोषों में, जहां केवल समितियों को ही सदस्यता प्राप्त होती है, धनाढ्य एवं उत्साही व्यक्तियों से जो आर्थिक एवं जन-सहयोग प्राप्त होना चाहिए वह नहीं मिल पाता, क्योंकि उन्हें अंशधारी बनने का, द्वितीय वर्ग के अधिकोषों में अधिकार प्राप्त नहीं रहता। तीसरे वर्ग के अधिकोषों में उपर्युक्त दोनों वर्ग के केंद्रीय अधिकोषों के दोष नहीं पाये जाते। इनमें, केंद्रीय अधिकोष के कार्य-क्षेत्र में जितनी

सहकारी प्रत्यय समितियां होती हैं उनको भी अंशधारी बनने का अधिकार रहता है और साथ ही साथ उस क्षेत्र में जो उत्साही एवं अर्थ-सम्पन्न व्यक्ति हैं, उन्हें भी अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार अंश पूंजी लगाने का अवसर रहता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष जन-सम्पर्क और समितियों के द्वारा विभिन्न ग्रामों के कृषकों से परोक्ष जन-सम्पर्क बराबर बना रहता है। एक स्रोत से आवर्त धन-कोष प्राप्त होता रहता है और दूसरी ओर उस कोष का निरंतर सदुपयोग होता रहता है। इस प्रकार किसी भी अधिकोष के लिये जो दो मुख्य उद्देश्य, निक्षेप प्राप्ति एवं राशि विनियोग के रहते हैं, वे इस प्रकार के मिश्रित अंशधारियों वाले सहकारी अधिकोषों में सुगमता से पाये जाते हैं।

इस वर्ग के अधिकोषों के भी कुछ दोष हैं; जैसे, दोनों वर्ग के अंशधारियों के प्रतिनिधियों की संख्या निर्धारित करते समय अथवा संचालकगण की सभा में संचालकों की नियुक्ति के अवसर पर दोनों पक्षों में बहुधा मतभेद हो जाने का अवसर रहता है।

केंद्रीय अधिकोषों की प्रगति सन् १९१२ के सहकारिता अधिनियम के स्वीकृत किये जाने के उपरान्त हुई। सन् १९१५ से सन् १९२० तक की अवधि में, केंद्रीय, अधिकोषों की माध्य संख्या ३०१ थी, जबकि प्रारम्भिक सहकारी समितियों की संख्या २७००० से ऊपर थी। सन् १९२० से सन् १९२५ तक के ५ वर्षों में संख्या ५०० हो गई। सन् १९५०-५१ में इनकी संख्या ५०५ थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि संख्या की दृष्टि से सन् १९२५ के बाद से सन् १९५०-५१ तक कोई विशेष बढ़ती नहीं हुई है, जो कुछ संख्या बढ़नी थी वह सन् १९१२ से

सन् १९२५ तक ही बढ़ चुकी थी। भविष्य में केवल उनकी आर्थिक स्थिति भर में सुदृढ़ता लाने का अवसर रह गया था।

इनकी वर्तमान स्थिति निम्न प्रदर्शित आंकड़ों से प्रगट हो जाती है :—

	१९४९–५०	१९५०–५१	१९५३–५४
केंद्रीय अधिकोषों की संख्या	५९८	५०५	४९९
सदस्यता	१.८९ लाख	२ लाख	२,४८ हजार
ऋण प्रदान किये	७५.४ करोड़	८२ करोड़	६५ करोड़
कार्यवाहक पूंजी	५१.६ करोड़	५६ करोड़	६६ करोड़

आर्थिक स्थिति :—केंद्रीय अधिकोषों की अपनी निजी पूंजी इतनी पर्याप्त नहीं है कि उसके आधार पर ऋण की आवश्यकताएं पूर्ण की जा सकें, इसलिये केंद्रीय सहकारी अधिकोषों से काफी मात्रा में इन्हें ऋण लेने पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त गैर-सरकारी संस्थाओं से भी, विशेषकर व्यक्तियों से काफी मात्रा में ऋण लेने का भी अवसर आ जाता है। व्यक्तिगत सहायता बहुधा जन-निक्षेपों (public deposits) से मिलती है जो कि प्रत्येक सहकारी केंद्रीय अधिकोष निश्चित अवधि के लिये नगद, जनता से निक्षेप स्वरूप रखते हैं। लगभग इन अधिकोषों के पास जो निक्षेप राशियां प्राप्त होती हैं उसमें से ६७ प्रतिशत भाग व्यक्तियों से प्राप्त होता है। केंद्रीय अधिकोषों के ऋणों की शोधन-स्थिति काफी संतोषजनक है। सन् १९५०–५१ में केवल ९ प्रतिशत ऋण अवधि के बाद बकाया थे। इन अधिकोषों का केंद्रीय सरकार की प्रतिभूतियों में लगभग १४ करोड़ का विनियोग है।

कार्यक्षेत्र :—प्रत्येक प्रान्त में केंद्रीय अधिकोष का कार्यक्षेत्र समान नहीं है। कहीं-कहीं एक तहसील या जिले के लिये एक

केंद्रीय अधिकोष स्थापित किया गया है और कुछ दूसरे प्रान्तों में एक कमिश्नरी के लिये। बहुधा कमिश्नरी में ५–६ जिले होते हैं। प्रत्येक केंद्रीय अधिकोष का जो भी कार्यक्षेत्र वहां के सहकारिता विभाग द्वारा निर्धारित किया गया है, उसके अन्तर्गत जितनी प्रारंभिक सहकारी समितियां कार्य कर रही हैं वे सभी उस केंद्रीय अधिकोष से संबंधित हो जाती हैं, अर्थात् उन्हें अपने अतिरिक्त कोष के लिए इसी क्षेत्र वाले केंद्रीय अधिकोष से ऋण आवेदन करना पड़ता है।

व्यवस्था :—प्रत्येक केंद्रीय अधिकोष की पूंजी अंशों में विभक्त रहती है। जो व्यक्ति अथवा संस्थाएं इस अधिकोष के अंश प्राप्त कर लेती हैं, अंशधारी बन जाती हैं। सदस्यता के आधार पर केंद्रीय अधिकोषों के जो तीन विभाजन इससे पूर्व उल्लिखित किये जा चुके हैं, उनको ध्यान में रखते हुए प्रत्येक केंद्रीय अधिकोष के अंशधारी सामान्य सभा के सदस्य स्वतः हो जाते हैं। अंशधारियों की इस साधारण सभा की वार्षिक सभा में एक व्यक्ति एक मत (single vote) के आधार पर संचालकों की एक सभा चुनी जाती है। संचालकों (directors) की संख्या ३, ५ या ७ रहती है, जिसमें एक प्रबन्ध संचालक होता है। कुछ प्रान्तों में जहां विभिन्न स्वार्थों का प्रतिनिधित्व करना पड़ता है, संचालकों की संख्या २१–२४ तक पहुंच जाती है। इस प्रकार के संचालक बोर्ड (Board of directors) बहुधा अशोभनीय हो जाते हैं और पूरे सदस्य किसी भी सभा में उपस्थित नहीं हो पाते। ऐसी अवस्था में संचालक बोर्ड को एक छोटी सी कार्यकारिणी (executive) की नियुक्ति करनी पड़ती है। यदि संचालक बोर्ड में संचालकों की संख्या अधिक नहीं है, तो कार्यकारिणी अलग से नियुक्त करने की जरूरत नहीं पड़ती। संचालक सभा के सदस्य ही कार्यकारिणी के सम्पूर्ण अधिकारों

का उपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त दैनिक कार्य-व्यवस्था के नियमित रूप से संचालन करने के लिये एक प्रबंधक (manager) नियुक्त किया जाता है। वह केंद्रीय अधिकोष की संचालक-सभा के सदस्यों में से नहीं होता। संचालक सभा द्वारा नियुक्त अवैतनिक मंत्री (secretary) एवं अध्यक्ष (chairman) को परामर्श देना और अधिकोष का सुचारु रूप से संचालन करना तथा संबंधित समितियों का मार्ग-दर्शन करना आदि इसके अनेक कार्य हैं। संबंधित समितियों की आर्थिक स्थिति की जानकारी के विषय में उसे बहुधा दौरे पर भी जाना पड़ता है। वास्तव में उसका प्रत्यक्ष संबंध केवल प्रारम्भिक प्रत्यय समितियों से रहता है, किन्तु कुछ प्रान्तों में अन्य प्रारम्भिक समितियों के लिये भी जिम्मेदारी दे रखी है। प्रत्यय समितियों के निरीक्षण का कार्य-भार, प्रत्येक प्रान्त में उसकी नियमित दिनचर्या है, केंद्रीय अधिकोष के कार्यालय के पत्र-व्यवहारों तथा अन्य आवश्यकीय कार्यों की, संचालक बोर्ड द्वारा नियुक्त अवैतनिक मंत्री देखभाल करते रहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक केंद्रीय अधिकोष में लिपिक, लेखापाल, एवं कोषाध्यक्ष इत्यादि अन्य वैतनिक कर्मचारी भी रहते हैं।

केंद्रीय अधिकोषों के संचालकों को बहुधा कोई वेतन-भत्ता नहीं मिलता। ऐसे केंद्रीय अधिकोषों में जहां सहकारी संस्थाएं तथा व्यक्ति विशेष भी अंशधारी बन सकते हैं, वहां संचालक सभा में बहुधा सहकारी समितियों के प्रतिनिधियों की संख्या, व्यक्तिगत अंशधारियों से अपेक्षाकृत दुगनी रहती है। यद्यपि सैद्धांतिक रूप में इस प्रकार का भेद उचित नहीं है, किन्तु व्यावहारिक रूप में, इससे केंद्रीय अधिकोषों का सहकारी आधार (co-operative basis) बना रहता है, क्योंकि सहकारी समिति के प्रतिनिधियों का स्पष्ट बहुमत बन जाता है।

कार्यशील पूंजी :—केंद्रीय अधिकोषों की कार्यशील पूंजी निम्नलिखित साधनों से प्राप्त होती है :—

(१) अंश पूंजी द्वारा
(२) स्थायी संचिति या संचय प्रणीवि द्वारा
(३) सार्वजनिक निक्षेप द्वारा
(४) ऋणों द्वारा

अंश पूंजी :—कुछ अधिकोषों में केवल सहकारी समितियां ही अंश खरीद सकती हैं। और अधिकतर अधिकोषों में सहकारी समितियाँ तथा जन-साधारण दोनों ही अंश खरीद सकते हैं। प्रथम प्रकार के अधिकोषों को शुद्ध सहकारी (pure co-operative) और दूसरे प्रकार के अधिकोषों को मिश्रित अधिकोष (mixed banks) कह सकते हैं। साधारणतया केंद्रीय अधिकोषों की अंश पूंजी ५० रु० अथवा १०० रु० के अंशों में विभक्त रहती है, किन्तु कहीं-कहीं ५० रु० से कम अंकित मूल्य के भी अंश पाये जाते हैं। कुछ राज्यों में अंशों का अंकित मूल्य, एक बार में ही चुकाना पड़ता है, किन्तु अधिकतर प्रदेशों में मूल्य प्रभागों (instalments) में चुकाया जा सकता है। अंश पूंजी से प्राप्त राशि स्वामित्वमयीधन-राशि होती है, जो कि सार्वजनिक निक्षेप एवं ऋणों से प्राप्त कोषों की अपेक्षा अधिकोष के स्थायित्व एवं प्रतिष्ठा को बढ़ाती है। इसीके आधार पर अन्य अधिकोषों से अतिरिक्त कोष उपलब्ध किया जाता है। इसलिये यह आवश्यक है कि इनकी अंश पूंजी पर्याप्त होनी चाहिये। आम तौर से अंश पूंजी एवं रक्षित कोष द्वारा उपलब्ध राशि और सार्वजनिक निक्षेप तथा ऋणों द्वारा उधार पंजी में १ और ८ का अनुपात पाया जाता है।

सार्वजनिक निक्षेप :—प्रत्येक प्रान्तीय अधिकोष वैयक्तिक सदस्यों और सहकारी समिति सदस्यों तथा गैर-सदस्यों से सार्वजनिक निक्षेप दो प्रकार के लेखों में स्वीकार करते हैं :— सावधिक निक्षेप (fixed period deposits) और संचयी निक्षेप (savings deposits accounts)। ये दो प्रकार के निक्षेप स्वीकृत किये जाते हैं, किन्तु चल निक्षेप अधिकतर स्वीकार नहीं किये जाते। चल निक्षेप लेखे रखने के लिये अधिक कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है और इसके अतिरिक्त प्रत्येक नगर में व्यापारिक अधिकोषों की इतनी अधिक शाखाएँ हैं कि उनसे चल-लेखों में प्रतिस्पर्द्धा करना इन केंद्रीय अधिकोषों के लिये उचित नहीं है।

ऋण :—केंद्रीय अधिकोष अपने सदस्यों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिये बहुधा ऋण भी लेते हैं। ऋण बहुधा प्रान्तीय अधिकोषों अथवा अन्य व्यापारिक अधिकोषों से लिये जाते हैं। केंद्रीय अधिकोषों को राज्य सरकारों से सीधे ऋण प्राप्त करने का अधिकार नहीं है। विभाजन के पूर्व केवल पंजाब में प्रत्यक्ष ऋण लेने की व्यवस्था थी। हैदराबाद आदि देशी रियासतों में, जो कि अब भारत-वर्ष में मिला ली गई हैं, राज्य सरकारों से प्रत्यक्ष ऋण लेने की सुविधा अभी तक है। इसके अतिरिक्त व्यापारिक अधिकोष से भी कोई विशेष राशि प्राप्त नहीं होती, थोड़ी बहुत राशियां अनु-ग्रह विपत्र (accommodation bills) के द्वारा मिल जाती हैं। युद्धकाल पूर्व इम्पीरियल बैंक (Imperial Bank) द्वारा सहकारी केन्द्रीय अधिकोषों के अनुज्ञा विपत्रों (promisory notes) के आधार पर ऋण दे दिया जाता था। लेकिन, अब उसने भी यह प्रथा बन्द कर दी है। इस प्रकार अब केन्द्रीय अधिकोषों के लिये केवल दो ही मार्ग खुले हैं :—

१. प्रान्तीय सहकारी अधिकोष से, सरकारी प्रतिभूतियों के आधार पर ऋण प्राप्त करना अथवा जो कृषि-विपत्र (agricultural bills) उन्होंने स्वीकार किये हैं, उनका पूर्व प्रापण प्रान्तीय अधिकोष से करा लेना। प्रान्तीय सहकारी अधिकोष इन कृषि-विपत्रों का पुनः प्रापण रिजर्व बैंक आफ इण्डिया से कर सकते हैं। कुछ प्रान्तों में एक सहकारी अधिकोष दूसरे सहकारी अधिकोष को समय-समय पर पंजीयक की अनुमति लेकर सहायता प्रदान कर सकता है। इसके अतिरिक्त यदि प्रान्तीय सरकार की कृपा दृष्टि हो गई तो कुछ अनुदान (grants) आदि भी प्राप्त हो जाता है, जिससे अधिकोषों के व्यय-भार में कमी हो जाती है।

प्रदत्त ऋण :—केन्द्रीय सहकारी अधिकोष बहुधा अल्प-कालीन एवं मध्यकालीन अवधियों के लिये ऋण प्रदान करते हैं। अधिक से अधिक प्रदत्त ऋणों की अवधि उतनी होती है, जितनी कि प्राप्त सावधिक निक्षेपों की होती है। सावधिक निक्षेपों की अवधि से अधिक समय के लिये ऋण कदापि नहीं दिये जाते। ऋण बहुधा सहकारी प्रत्यय समितियों और अप्रत्यय समितियों को ही दिये जाते हैं। कुछ प्रान्तों में व्यक्तियों को भी ऋण देने की व्यवस्था थी, जो कि धीरे-धीरे बन्द की जा रही है। समितियों के पास ऋणों के बदले में केन्द्रीय अधिकोषों को कोई प्रतिभूति देना समितियों के सामर्थ्य के बाहर है, इसलिये उन्हें ऋण, उनके अनुज्ञा विपत्रों और बन्धों (bonds) के आधार पर देते हैं। सहकारी समितियों के बन्धों (bonds) और प्रोनोटों (promissory notes) को इतना मान इसलिये दिया जाता है कि उनका दायित्व असीमित होता है। कुछ मध्यकालीन ऋणों के लिये केन्द्रीय अधिकोष, प्रत्यय समिति द्वारा जमानत स्वरूप रखी गई उन्हीं प्रतिभूतियों को अपने नाम

स्थानांतरित करा लेता है, जो कि इन समितियों ने ऋण लेनेवाले अपने सदस्यों से स्वीकृत की थी। जो सहकारी समितियाँ केन्द्रीय अधिकोषों के क्षेत्र में आती हैं उनकी बहुधा हैसियत या प्रत्यय सामर्थ्य ज्ञात करके, केन्द्रीय अधिकोषों द्वारा उस प्रत्यय समिति को अधिक से अधिक कितना ऋण दिया जा सकेगा, यह सीमा निश्चित कर दी जाती है। ऋण बहुधा निश्चित अवधियों के लिये दिये जाते हैं और उसी अवधि के भीतर उनकी वसूली हो जानी चाहिए। इन प्रत्यय समितियों का मान उतना ही बढ़ जाता है, वे ऋण शोधन करने में जितनी तत्परता दिखाती हैं। युद्धकाल से पूर्व सन् १९३८-३९ में, समय के बाद अदत्त-ऋणों (over dues) की कुल राशि प्रदत्त ऋणों की तुलना में मद्रास प्रान्त में ४९.८ प्रतिशत और उत्तरप्रदेश में ३६.१ प्रतिशत थी। युद्धकालीन परिस्थितियों का ऐसा स्वस्थ प्रभाव है कि समय के बाद ऋण अब बहुत कम अशोधित पाये जाते हैं। सन् १९४५-४६ में इन दोनों प्रान्तों में समय के उपरांत अशोधित ऋणों का प्रतिशत घटकर क्रमानुसार ६.७ और १६.८ हो गया था। सन् १९५०-५१ में सम्पूर्ण भारतवर्ष के केन्द्रीय अधिकोषों के लिये समय के उपरान्त अशोधित ऋण कुल ९ प्रतिशत थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि युद्धकालीन परिस्थितियों का केन्द्रीय अधिकोषों की आर्थिक स्थिति पर बहुत ही उत्तम प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय अधिकोषों के उपार्जित लाभों में भी काफी अभिवृद्धि हुई है। सन्

१९४५-४६ में उपार्जित लाभ ५४ लाख रुपया था, जबकि युद्ध से पूर्व सन् १९३८-३९ में उपार्जित लाभ केवल ३९ लाख था। इस प्रकार उपार्जित लाभ में लगभग ४० प्रतिशत की अभिवृद्धि हुई।

प्रत्येक केन्द्रीय अधिकोष को अपने उपार्जित लाभों में से २५ प्रतिशत राशि संचिति प्रणीवि में अनिवार्य रूप से स्थानांतरित करनी पड़ती है।

ब्याज की दर :—केन्द्रीय अधिकोष बहुधा ८ से १२ प्रतिशत ब्याज की दर लगाते हैं। यह ब्याज की दर बहुत ऊँची है। इसके घटाने के प्रयास किये जा रहे हैं, किन्तु इस दिशा में कोई विशेष सफलता अचानक ही मिलने की आशा नहीं है। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने युद्धकाल पूर्व ही अधिकोष दर से १½ प्रतिशत कम पर प्रान्तीय अधिकोषों को कृषि-कार्यों के लिए ऋण देने प्रारम्भ किये। इस ब्याज की कमी का प्रभाव केन्द्रीय अधिकोषों की दर-नीति पर निश्चित रूप से पड़ना चाहिए। ६/६½ प्रतिशत ब्याज की दर भारतवर्ष की वर्तमान परिस्थितियों में सहनीय मानी जा सकती है। यदि केन्द्रीय अधिकोष ४/४½ प्रतिशत ब्याज की दर रखे, तब कृषकों को सहकारी समितियों से ६/६½ प्रतिशत ब्याज की दर पर ऋण प्राप्त हो सकेगा।

साधारणतया ऋणों की अवधि बढ़ाई नहीं जाती, वे समय-समय पर शोधित कर दिये जाने चाहिए, लेकिन उन कृषि-क्षेत्रों में जहाँ फसल किसी विशेष कारण से नष्ट हो गयी हो, तो सहकारी समिति के आग्रह पर केन्द्रीय अधिकोष अवधि बढ़ा देते हैं। केन्द्रीय अधिकोषों के पास जब अपनी आवश्यकता से अधिक धन रहता है, तब वे उसे प्रान्तीय अधिकोषों के पास जमा कर देते हैं। जिन प्रान्तों में प्रान्तीय अधिकोष नहीं है, वह

रुपया इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया में जमा कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक केन्द्रीय अधिकोष को कुछ स्थायी रूप से राशियाँ प्रान्तीय अधिकोष में निक्षेप रखनी पड़ती हैं अथवा ऐसी प्रतिभूतियों में विनियोग करना पड़ता है, जो कि प्रन्यास प्रतिभूतियों के वर्ग में से हों।

केन्द्रीय अधिकोषों ने इधर कुछ काल से सम्बन्धित समितियों को सहायता करने के अतिरिक्त व्यापारिक अधिकोषण कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है; उदाहरणार्थ, विपत्रों का संग्रहण, हुण्डियों तथा विपत्रों का पूर्व प्रापण तथा सोना, चाँदी, सरकारी प्रतिभूतियों तथा कृषि-उपज के आधार पर ऋण देना। ये सब कार्य, व्यापारिक अधिकोषण कार्य के अन्तर्गत आते हैं। युद्ध-कालीन परिस्थितियों में केन्द्रीय अधिकोषों को इस प्रकार के विभिन्न कार्यों के कर सकने के लिए पर्याप्त कोष उपलब्ध हो सके, क्योंकि उन दिनों ग्राम-वासियों को उनकी कृषि-उपज के दाम अच्छे प्राप्त हो रहे थे और उनके पास पुराने ऋणों को चुकाने के लिए विशेष माँग नहीं थी। इस प्रकार केन्द्रीय अधिकोषों पर प्रारम्भिक प्रत्यय समितियों और दूसरी अन्य सम्बन्धित समितियों की ओर से ऋणों के लिये कोई ज्यादा माँग नहीं आ रही थी। युद्धकालीन परिस्थितियों में कृषि-विकास की सभी योजनाएं स्थगित कर दी गई थीं, क्योंकि इस समय तो केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारें सम्पूर्ण साधनों को युद्ध विजय के लिये लगाने में जुटी थीं।

इन परिस्थितियों में केन्द्रीय अधिकोषों को व्यापारिक अधिकोषण कार्य करने की भले ही स्वीकृति प्रदान कर दी गई हो, किन्तु यह नीति सदैव के लिए व्यावहारिक नहीं मानी जा सकती। केन्द्रीय अधिकोषों को अपने उद्देश्यों के अनुकार ही

युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व जो वे कार्य करते थे, उन्हीं तक अपने आप को सीमित रखना चाहिए। युद्ध-समाप्ति के उपरांत जब प्रान्तों और केन्द्र में लोकतंत्र सरकारें स्थापित हुईं, तब देश अन्न के लिए दूसरे देशों के सामने हाथ फैला रहा था। इसलिये सन् १९४७ से बराबर केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारों का इस बात पर ध्यान लगा हुआ है कि देश को खाद्यान्न एवं व्यापारिक फसलों के क्षेत्र में स्वावलम्बी बना दिया जाय, इसलिये ग्रामीण क्षेत्रों में अनेकानेक विकास-योजनाएं कार्यान्वित की जा रही हैं। केन्द्रीय अधिकोषों को उन नये प्रयोगों को सफल बनाने में आर्थिक योगदान देना चाहिये।

: ६ :

प्रान्तीय अधिकोष

(Provincial Banks)

प्रान्तीय अधिकोषों की आवश्यकता एवं महत्व

सहकारिता आन्दोलन के प्रसार के साथ-साथ दिनोंदिन इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी कि ग्रामों और नगरों में जो प्रत्यय समितियाँ स्थापित की गई हैं और जिनके कार्य को सम्बद्ध करने के लिये केन्द्रीय अधिकोष स्थापित किये गये वे सब संस्थाएं नियमित प्रत्यय सुविधाएं प्रदान करने में असमर्थ रहीं, क्योंकि उनके निजी साधन इतने पर्याप्त नहीं थे कि कृषि-अर्थ-समस्या को सुलझा पाते। फसल आदि बोने के वक्त पर सारे देश के कृषकों को कृषि-व्यवस्था के लिये इतनी अधिक राशि की आवश्यकता पड़ती है कि स्थानीय प्रत्यय समितियाँ और केन्द्रीय अधिकोष उस मांग की पूर्ति नहीं कर पाते थे। उन्हें बाह्य सहायता की आवश्यकता का अनुभव होता था, इसीलिये प्रान्तीय आगम विभागों (Revenue Departments) अथवा कृषि विभागों (Agriculture Departments) से अर्थ उपलब्ध करने के प्रयास किये गए। लेकिन, प्रान्तीय सरकारों के पास न तो इतने साधन थे और न उपयुक्त व्यवस्था ही थी। सन् १९१५ में 'मकलेगन' जांच कमेटी नियुक्त

की गई। इस कमेटी ने उपर्युक्त परिस्थिति के लिये प्रान्तीय अधिकोषों की स्थापना करने की आवश्यकता व्यक्त की।

प्रत्येक प्रान्त में जो केन्द्रीय अधिकोष (Central Banks) कार्य कर रहे थे, उनकी रीति व नीति में न कोई समन्वय था और न पारस्परिक साहचर्य ही था। उनके ऊपर नियन्त्रण करनेवाली एक ऐसी संस्था स्थापित करने का विचार उन दिनों चल रहा था, जो केन्द्रीय अधिकोषों के नियन्त्रण एवं निरीक्षण का कार्य-भार पंजीयकों (registrars) से अपने हाथ में ले ले और उस प्रान्त के सभी केन्द्रीय अधिकोषों की नीति-रीति शासित करे। विभागीय नियन्त्रण, जो कि उस समय तक सहकारिता विभाग के उच्च पदाधिकारी पंजीयक द्वारा किया जा रहा था, सहकारियों (co-operators) की दृष्टि में उपयुक्त नहीं था। जन-आन्दोलन की व्यवस्था एवं नियन्त्रण जन-साधारण के हाथ में न छोड़कर विभागीय कर्मचारियों के हाथ में सौंप देना उत्साही कार्यकर्ताओं की मनोवृत्ति के बिलकुल विरुद्ध था, इसलिये प्रान्तीय अधिकोषों की स्थापना करना नितान्त आवश्यक हो चला था।

केन्द्रीय अधिकोषों का महत्व निम्नलिखित कारणों से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है :—

१. केन्द्रीय अधिकोषों का अर्थ-वितरण से प्रत्यक्ष संबंध नहीं था, इसलिये रुपये की अधिक मांग आने पर वे कर्जे (ऋण) निर्गमित नहीं कर पाते थे, बल्कि इसके विपरीत बहुधा ब्याज की दर बढ़ा अपने अल्प साधनों से ही काम चलाने की कोशिश किया करते थे। इस प्रकार की नीति से वास्तव में सहकारिता के आन्दोलनों का दम ही घुट जाता था। सामान्य

कृषकों एवं कारीगरों को कम ब्याज की दर पर रुपया प्राप्त न होना अथवा आवश्यकता से कम रुपया प्राप्त होना, ये दशाएं दयनीय थीं, इसलिये एक ऐसी सुदृढ़ एवं विस्तृत क्षेत्रवाली सहकारी अधिकोष संस्था स्थापित करना जरूरी था, जो कि समय पड़ने पर अपने निजी प्रत्यय सामर्थ्य के आधार पर अर्थ वित्तिणि से प्रचलित ब्याज की दर पर ऋण उपलब्ध करसके।

२. एक ही प्रान्त के विभिन्न जिलों में, जहाँ भिन्न-भिन्न केन्द्रीय अधिकोष कार्य करते थे, बहुधा ऐसा देखने में आया था कि कुछ जिलों में अधिकोषों के पास निक्षेप अधिक और ऋणों की मांग कम थी तथा दूसरे किसी केन्द्रीय अधिकोष में रुपये की मांग अधिक और निक्षेप कम था। इन अधिकोषों के ऊपर समन्वय अभिकर्त्तृत्व (coordinating agency) के अभाव में एक जगह की बची हुई धनराशि दूसरी जगह, जहां पर्याप्त मांग थी, उपयोग में नहीं लायी जा सकती थी। इन सब कारणों से प्रांतीय अधिकोष स्थापित करने के लिये उपयुक्त वातावरण बन चला था।

प्रान्तीय अधिकोषों की संख्या एवं सदस्यता

भारतवर्ष में इस वक्त १४ प्रान्तीय अधिकोष कार्य कर रहे हैं। इनमें से कुछ अधिकोष केवल अधिकोषण कार्य ही करते हैं, इसलिये तालिका में उनके सामने 'शुद्ध' शब्द लिखा गया है, और प्रान्तीय अधिकोष अधिकोषण कार्य के अतिरिक्त अन्य सहकारी कार्य भी करते हैं, इसलिये उनके सामने 'मिश्रित'

शब्द लिखा गया है। प्रदेशों के अनुसार इन प्रान्तीय अधिकोषों का वितरण इस प्रकार है :—

प्रदेश (१)	संख्या (२)	प्रकार (३)
मद्रास	१	मिश्रित
बम्बई	१	मिश्रित
पश्चिमी बंगाल	१	शुद्ध
उत्तरप्रदेश	१	मिश्रित
मध्यप्रदेश	१	मिश्रित
पंजाब	१	शुद्ध
बिहार	१	मिश्रित
उड़ीसा	१	,,
आसाम	२	,,
मैसूर	१	,,
हैदराबाद	१	,,
अजमेर	१	,,
कुर्ग	१	,,

आसाम में एक प्रान्तीय सहकारी अधिकोष सन् १९४८ से पूर्व ही कार्य कर रहा था, जबकि सन १९४८ में आसाम को-आपरेटिव एपेक्स बैंक और स्थापित किया गया। आजकल पहले अधिकोष का कार्य दिनोंदिन कम होता चला जा रहा है।

इन अधिकोषों का विधान समान नहीं है, किन्तु उन सब की प्रक्रियाएं समान हैं। उनके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :—

१. केन्द्रीय अधिकोषों के कार्यों का समन्वय करते हैं।

२. आवश्यकता पड़ने पर प्रान्तीय अर्थ विपणियों से धन

३. अधिकतर प्रान्तीय अधिकोष मिश्रित अधिकोषण करते हैं। केवल दो प्रान्तों में शुद्ध अधिकोषण-कार्य करनेवाले अधिकोष हैं।

सदस्यता :—प्रान्तीय अधिकोषों की सदस्यता सहकारी संस्थाओं के लिये खुली हुई है, जो कि इच्छानुसार अंश पूंजी क्रय कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत अंशधारी भी काफी संख्या में रहते हैं। सहकारी संस्थाओं एवं व्यक्तिगत अंशधारियों, दोनों ही के प्रतिनिधि संचालक-सभा में रहते हैं। केवल पंजाब और बंगाल में, जहाँ शुद्ध स्वरूप के अधिकोष हैं, व्यक्तिगत अंशधारी नहीं होते। वहाँ केवल सहकारी प्रत्यय समितियां और केन्द्रीय अधिकोष ही सदस्यता ग्रहण कर पाते हैं। मिश्रित सदस्यता का कुछ व्यक्तियों ने काफी विरोध किया है। मद्रास सहकारिता समिति ने व्यक्तिगत अंशधारी न रखने की सिफारिश की थी, क्योंकि उनके कारण साधारण सभाओं एवं संचालन सभाओं के मतदान एवं प्रतिनिधित्व के विषय में काफी कठिनाईयां उपस्थित हो जाती हैं।

संचालन :—इन अधिकोषों के संचालन के लिये संचालकों को व्यापारिक अधिकोषों के कार्यों का अनुभव आवश्यक है। अधिकोषण अधिनियम के अन्तर्गत अधिकोषण संस्थाओं के जो अनेकानेक उद्देश्य व्यक्त किये गये हैं, उन्हें प्रांतीय सहकारी अधिकोष सहकारिता के सिद्धान्तों का आधार बना सकते हैं। प्रत्येक प्रान्तीय सहकारी अधिकोष के संचालक बोर्ड में अधिकोषण सम्बन्धी योग्यता रखनेवाले व्यक्तियों को स्थान देना चाहिये, लेकिन साथ ही ऐसे व्यक्ति सहकारिता के सिद्धान्तों में विश्वास रखते हों तभी उन्हें उस पद के योग्य समझना चाहिये, अन्यथा उनसे अहित होने का डर है। सदस्य समितियों को भी संचालक

बोर्ड में स्थान प्रदान करना चाहिये। इसके लिये समितियों में इनके द्वारा नियुक्त दो-तीन अनुभवी प्रतिनिधि रखे जा सकते हैं। कुछ अधिकोषों में अंशधारियों के अतिरिक्त बाहरवाले अन्य व्यक्तियों को भी संचालक बोर्ड में रखने की प्रथा है। ये व्यक्ति यदि सहकारिता विभाग के उच्च पदाधिकारी हैं और इन्हें संचालक बोर्ड में सम्मिलित करने के लिये सहकारिता अधिनियम में आदेश है, तो उस आदेश का पालन करना ही पड़ेगा, अन्यथा अंशधारियों से बाहर का कोई व्यक्ति संचालक बोर्ड में सम्मिलित नहीं किया जाना चाहिये। विभाजन से पूर्व पंजाब में यह प्रथा थी कि प्रान्तीय सहकारी बैंक में सहकारिता विभाग के पंजीयक तथा आर्थिक परामर्शदाता, दो व्यक्तियों को अनिवार्य रूप से सम्मिलित करना पड़ता था। मध्यप्रदेश में सहकारिता विभाग के पंजीयक तथा अर्थ विभाग के सचिव को सम्मिलित करना पड़ता है। बिहार में प्रान्तीय अधिकोष सरकार के नियन्त्रण में दे दिया गया है और सरकार स्वयं प्रबन्ध-व्यवस्थापक की नियुक्ति करती है।

पूंजी :— प्रान्तीय अधिकोषों की पूंजी अंशों में विभाजित रहती है। सन् १९५०-५१ के आंकड़ों के अनुसार ३४ करोड़ कार्यशील पूंजी है और इनकी सदस्यता २० हजार है, जिसमें से ८ हजार व्यक्तिगत सदस्य और १२ हजार केन्द्रीय अधिकोष एवं अन्य समितियां अंशधारी बनकर सदस्यता प्राप्त किये हुए हैं। इनकी कार्यशील पूंजी चार मदों से बनी है, यथा:—

१. अंश पूंजी, २. ऋण पत्र, ३. निक्षेप, ४. ऋण।

अंश पूंजी द्वारा केवल सम्पूर्ण कार्यवाहक पूंजी का १६ प्रतिशत प्राप्त हुआ है। निक्षेपों के अन्तर्गत प्रान्त की लगभग सभी सहकारी समितियों से प्राप्त निक्षेप रहते हैं, किन्तु व्यक्तिगत

निक्षेप मात्रा में सबसे अधिक रहते हैं। इसके उपरान्त दूसरा नम्बर केन्द्रीय अधिकोषों के निक्षेपों का आता है। इन अधिकोषों में बहुधा अल्पकालीन निक्षेप ही स्वीकार किये जाते हैं। दो चार ऐसे अधिकोषों ने, जिन्होंने दीर्घकालीन निक्षेप स्वीकर किये थे, अपनी नीति परिवर्तित कर दी है, क्योंकि इन्हें दीर्घकालीन निक्षेपों पर ब्याज-भार अधिक पड़ता था।

आजकल प्रान्तीय सहकारी अधिकोषों की प्रत्यय क्षमता काफी बढ़ी-चढ़ी है। बहुधा इनके मुख्य कार्यालय प्रान्तीय राजधानी में रहते हैं, जहाँ काफी मात्रा में व्यक्तिगत निक्षेप भी प्राप्त हो जाते हैं। यह अधिकोष साधारणतः तीनों प्रकार के व्यक्तिगत लेखे खोलने की व्यवस्था रखते हैं। कोई-कोई अधिकोष तो चल लेखों (current accounts) पर भी $\frac{3}{4}$ या १ प्रतिशत वार्षिक ब्याज देते हैं।

इन अधिकोषों से प्राप्त की विभिन्न सहकारी संस्थाओं को समय-समय पर आर्थिक सहायता प्राप्त होती रहती है। फसल बोने के अवसर पर बीज, खाद एवं यंत्र आदि के लिये जब ऋण लेने का जोर सहकारी प्रत्यय समितियों और केन्द्रीय अधिकोषों पर पड़ता है, तो वे आर्थिक सहायता के लिये प्रान्तों के सहकारी अधिकोषों से सहायता लेते हैं। इसी प्रकार फसल कटने पर फसल को संग्रहित करने के लिये सहकारी विपणन संघ इन अधिकोषों से सहायता प्राप्त करते हैं। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के उपरांत केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की ओर से कृषि पुनरुत्थान के लिये अनेकानेक प्रयत्न किये जा रहे हैं। उन-प्रयासों में प्रांतीय अधिकोषों ने भी काफी योगदान दिया है। नयी भूमि को तोड़ने के हेतु ट्रैक्टर एवं अन्य कृषि यंत्र खरीदने के लिये या सहकारी विपणन संघ द्वारा नगर को अन्न

वितरण-व्यवस्था के अन्तर्गत अन्न संग्रहालय एवं भंडारों में अन्न भरने के लिये ऋण आदि की व्यवस्था करके प्रान्तीय अधिकोषों ने बहुत सहायता पहुँचाई।

रिजर्व बैंक की तरफ से सहायता :— सन् १९३५ में जिस समय रिजर्व बैंक की स्थापना की गई थी, उसके ऊपर भारतीय कृषि के विकास का अप्रत्यक्ष रूप से भार भी डाल दिया गया था। इस अधिकोष के प्रत्यय विभाग के ऊपर यह दायित्व डाला गया था कि वह कृषि-अर्थ-व्यवस्था के लिये एक उचित योजना केन्द्रीय सरकार को प्रस्तुत करेगा। इस आदेशानुसार इस अधिकोष ने एक परिनियत प्रतिवेदन (statutory report) केन्द्रीय सरकार के समक्ष प्रस्तुत की, किन्तु कुछ कारणोंवश उस प्रतिवेदन पर कोई कदम नहीं उठाया गया। रिजर्व बैंक का प्रत्यय विभाग निरन्तर विभिन्न प्रकार से सहकारी अधिकोषों को और परोक्ष रूप में कृषि-अर्थ-व्यवस्था को सहायता पहुँचाता रहा है। वह सहकारी अधिकोषों की ऋण नीति, आर्थिक संगठन तथा अर्थ विपणियों की गतिविधि पर समय-समय पर सूचना देता रहा है। इसके अतिरिक्त सहकारिता आन्दोलन से संबंधित आवश्यकीय आंकड़े संग्रहित करना, सहकारिता सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित करना और भारतीय सहकारिता आन्दोलन की समीक्षा प्रकाशित करना आदि अनेकों कार्यों द्वारा सम्पूर्ण सहकारिता आन्दोलन को तथा विशेषकर प्रान्तीय अधिकोषों को मदद पहुँचाता रहा है। रिजर्व बैंक आफ इंडिया को कृषि-कार्यों के लिये स्वतः प्रत्यक्ष रुपया प्रदान करने का अधिकार नहीं है। वह केवल प्रान्तीय सहकारी अधिकोषों के तथा व्यापारिक अधिकोषों के द्वारा ही आर्थिक सहायता प्रदान कर सकता है। वह उन कृषि-विपत्रों को क्रय कर सकता है, जो किसी

फसली प्रत्यय पूर्ति (seasonal credit requirements) के लिए लिये गए हों और जिनकी अवधि नौ माह से अधिक न हो। रिजर्व बैंक आफ इंडिया के कृषि साख उप-विभाग ने सहकारिता आन्दोलन के तथा कृषकों के ऋण सम्बन्धी तथ्यों को ज्ञात करके उन्हें प्रकाश में लाने के लिये कोई कसर उठा नहीं रखी है। वे सहकारिता आन्दोलन के विशेष लक्षणों की कार्य-प्रणाली का तत्स्थान अध्ययन करते हैं और समय-समय पर सहकारिता आन्दोलन सम्बन्धी आलोचनात्मक अध्ययन प्रकाशित करते रहे हैं।

प्रान्तीय अधिकोषों एवं केन्द्रीय अधिकोषों के सम्बन्धः—

प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय अधिकोषों का केन्द्रीय अधिकोषों (Central Banks) पर समान नियन्त्रण नहीं है। इसका एक मुख्य कारण यह है कि सन् १९१९ के बाद से सहकारिता निरंतर प्रादेशिक विषय रहा है; इसलिये प्रत्येक सरकार को अपने प्रान्त की आवश्यकताओं के अनुसार सहकारिता अधिनियम संशोधित एवं परिवर्तित करने पड़े हैं। सभी प्रान्तीय सरकारों के ऊपर समान अधिनियम स्वीकृत करने के लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं है। अधिकतर प्रान्तों में केन्द्रीय अधिकोष अपना रुपया प्रान्तीय सहकारी अधिकोष में रखते हैं। किन्तु, कुछ प्रान्तों में उन्हें इस बात की भी स्वतन्त्रता है कि वे अपना रुपया अनुसूची बद्ध किसी भी सुदृढ़ व्यापारी अधिकोष में जमा कर सकते हैं। बम्बई राज्य में प्रान्तीय अधिकोष, केन्द्रीय अधिकोषों द्वारा रखे गये सावधिक निक्षेपों पर, जनसाधारण द्वारा रखे गये निक्षेपों की अपेक्षा अधिक ब्याज देता है। बम्बई प्रान्त में प्रान्तीय अधिकोष के नेतृत्व में एक सहकारी अधिकोष एसोसियेशन भी कार्य कर रहा है, जो बम्बई राज्य

के अधिकोषों को सम्बद्ध किये हुए है। प्रान्तीय अधिकोषों का वार्षिक सम्मेलन बुलाया जाता है, जिसमें सहकारी अधिकोषण सम्बन्धी नीति-रीतियों और समस्याओं पर विचार किया जाता है और निर्णय लिये जाते हैं, जो कि सम्बन्धित केन्द्रीय अधिकोषों को मान्य होते हैं। प्रान्तीय अधिकोष के द्वारा नियुक्त निरीक्षक समय-समय पर केन्द्रीय अधिकोषों का निरीक्षण करते हैं। जहाँ पर प्रान्तीय अधिकोष स्थापित हो चुके हैं, वहाँ सम्बन्धित केन्द्रीय अधिकोष आपस में एक-दूसरे को ऋण नहीं दे सकते। उन्हें अपना अतिरिक्त धन-कोष, जो कि आवश्यकता से अधिक है, प्रान्तीय अधिकोष में जमा करना पड़ता है और जिस अधिकोष को रुपये की जरूरत पड़ती है, वह केन्द्रीय अधिकोष से आवेदन करता है। प्रान्तीय अधिकोष केन्द्रीय अधिकोषों के लिये आवश्यकता पड़ने पर प्रान्त की अर्थ-वित्तपणि (money market) से भी रुपया उपलब्ध करके दे सकते हैं। इस प्रकार केन्द्रीय अधिकोषों के लिये *परामर्शदाता, मार्गदर्शक एवं आर्थिक संतुलनकर्ता* के रूप में प्रान्तीय अधिकोष कार्य करते पाये जाते हैं।

प्रान्तीय अधिकोष एवं पंजीयक:— प्रान्तीय अधिकोष और सहकारिता विभाग के पंजीयक के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिये, इस विषय में भी काफी विवाद है। प्रत्येक प्रान्त में प्रान्तीय अधिकोषों के संचालक बोर्ड का अध्यक्ष-पद सहकारिता विभाग के पंजीयक द्वारा ही ग्रहण किया गया है। इसके अतिरिक्त सहकारिता विभाग के सर्वोच्च पदाधिकारी के नाते उसे पर्याप्त अधिकार प्राप्त हैं। ऐसी परिस्थिति में स्वभावतः वह नियन्त्रण एवं हस्तक्षेप करता है।

सहकारिता जन-साहचर्य पर अवलम्बित आंदोलन है, इसलिये जन-साधारण से सम्पर्क पैदा करना और इस जन-शक्ति का लाभ उठाना, इस आन्दोलन की सभी संस्थाओं के लिये जरूरी है। प्रान्तीय अधिकोष भी इसकी अवहेलना नहीं कर सकते। इन परिस्थितियों में प्रान्तीय अधिकोष के समक्ष कभी-कभी ऐसी विषम समस्या खड़ी हो जाती है कि पंजीयक के आदेशों की अवहेलना करें अथवा जन-सद्भावना खो बैठें। बङ्गाल, बिहार एवं मध्यप्रदेश में एक बार ऐसी स्थिति पैदा हो गई थी कि बहुत-सा रुपया, जो कि सहकारी समितियों को पंजीयक के आदेशों पर दे दिया गया था, वह अशोध्य हो गया। प्रान्तीय अधिकोषों को इससे काफी क्षति हुई। प्रान्तीय अधिकोषों के ग्राहकों या निक्षेपकर्ताओं ने इस पर यह आपत्ति उठाई कि इस क्षति की पूर्ति राज्य सरकार द्वारा की जानी चाहिए, क्योंकि पंजीयक राज्य सरकार का अभिकर्त्ता है, उसकी सिफारिश के आधार पर दिये गये ऋणों के लिये सरकार को उत्तरदायी होना चाहिए। बङ्गाल में सरकार को इस क्षति-पूर्ति के लिये २४ लाख रुपये देने पड़े थे। कुछ लेखकों का यह स्पष्ट मत है कि पंजीयक को प्रान्तीय अधिकोषों के संचालक बोर्ड में नहीं रहना था, बल्कि बाहर से ही मार्गप्रदर्शन करते रहना चाहिए।

बम्बई प्रान्तीय अधिकोष

११ अक्टूबर सन् १९११ में इस अधिकोष की स्थापना हुई थी। इस अधिकोष की ६७ शाखाएं हैं। इसकी सदस्यता ३,३१४ व्यक्तियों और ४,१४६ अधिकोषण संस्थाओं एवं समितियों द्वारा दृढ़ की गई है। सन् १९४९-५० में इस अधिकोष ने १२ करोड़ रुपया केन्द्रीय अधिकोषों को और १३ करोड़ रुपया

५८६ व्यक्तियों को उधार दिया था। इसके पास १९४९-५० के वर्ष में ३० जून को ३१,८४,८४१ रुपया हस्तस्त रोक और १,००,४३,५१७ रु० अधिकोषस्त रोक था। इसने ५ करोड़ से अधिक रुपया राज्य सरकार की प्रतिभूतियों में विनियोग कर रखा था। इसके पास ५,४३,३,०० संचिति है। संदिग्ध ऋणार्थ संचिति भी पर्याप्त मात्रा में है। इस अधिकोष ने विपणन समितियों को विशेष रूप से प्रोत्साहन दिया है। इसके अतिरिक्त अन्न वितरण-व्यवस्था को सफल बनाने के लिए जो सहकारी उपभोक्ता भण्डार संचालित किये गये थे, उन्हें भी पर्याप्त सहायता पहुँचाई गई है। इसकी कार्यवाहक पूंजी १२.२९ करोड़ रुपया है। बम्बई प्रान्त के सहकारी अधिकोषों का एक एसोसिएसन भी इस अधिकोष ने स्थापित कर रखा है, जिसके द्वारा प्रान्त के विभिन्न केन्द्रीय अधिकोषों से नियमित सम्पर्क बनाए रखने में सफलता प्राप्त की गई है। सन् १९४९ से प्रान्तीय सरकार की भी सहायता से अधिकोष ने प्रान्त के प्रत्यय सामर्थ्यशाली किसानों को खेती-उत्पादन व विपणन के लिये अल्पकालीन व मध्यकालीन ऋण प्रदान करने प्रारम्भ कर दिये हैं, इसके अतिरिक्त सब प्रकार का अधिकोषण-कार्य भी वह सम्पन्न करता है। यह शोधन-गृह का भी सदस्य है।

उत्तर प्रदेश का प्रान्तीय सहकारी अधिकोष

इस प्रान्तीय सहकारी अधिकोष के, व्यक्ति और समितियाँ, दोनों ही सदस्य हैं। व्यक्तियों ने ४ लाख के अंश लिये हैं और समितियों ने ८½ लाख रुपये के अंश ले रखे हैं। सहकारिता विभाग के उच्च अधिकारी पंजीयक इस अधिकोष के अध्यक्ष हैं। इसकी संचालक सभा में ११ और अन्य व्यक्ति हैं, जिनमें

६ व्यक्ति समितियों द्वारा चुने गये, ३ व्यक्ति अंशधारियों द्वारा चुने गये और २ व्यक्ति प्रान्तीय सरकार द्वारा मनोनीत सदस्य हैं।

यह अधिकोष एक वर्ष से अधिक समय के सावधिक निक्षेप स्वीकार नहीं करता। सावधिक निक्षेपों पर ३ प्रतिशत, संचय लेखों पर १½ प्रतिशत और चल लेखों पर आधा प्रतिशत ब्याज देता है। ३० जून १९४९ को इस अधिकोष में २ करोड़ रुपया सावधिक निक्षेपों में और १३ लाख संचय लेखों में तथा १६ लाख चल लेखों में जमा था। सरकारी प्रतिभूतियों में इसने १९ लाख रुपया विनियोग कर रखा था; प्रारम्भिक समितियों को २ लाख, केन्द्रीय अधिकोषों को ३१ लाख तथा बिक्री संघों (unions) को २ करोड़ २१ लाख रुपया उधार दे रखा था।

मद्रास प्रान्त का सहकारी अधिकोष

भारत के प्रान्तीय अधिकोषों में मद्रास प्रान्त के सहकारी अधिकोष का बहुत ऊँचा स्थान है। प्रान्त में इसकी ६ शाखाएँ हैं। इसकी सदस्यता १६७ व्यक्तियों और ३३ अधिकोषों ने ग्रहण कर रखी है। इसने १९४९-५० में ४१६ अधिकोषों एवं प्रत्यय समितियों में ८½ करोड़ के लगभग और २०८ व्यक्तियों को ७ लाख के लगभग ऋण प्रदान किया था। इसकी प्रदत्त पूंजी १५ लाख रुपया है और इसकी संचिति इसकी प्रदत्त पूंजी से भी अधिक है। लगभग ४३ लाख रुपया संचिति लेखे में है। अधिकोष की कार्यवाहक पूंजी लगभग ७ करोड़ रुपया है। सावधिक निक्षेप राशियों के ब्याज और ऋणों पर दी गई उधार राशि के ब्याज की दर में बहुत कम अन्तर है, जो कि इस

अधिकोष की सुदृढ़ता का परिचायक है। यह अधिकोष सावधिक निक्षेपों पर २ प्रतिशत ब्याज प्रदान करता है और ३½ प्रतिशत ब्याज ऋणों पर दी हुई राशियों पर लेता है। इसने लाभांश सामान्यतया ६ प्रतिशत वितरित किया है। युद्धकाल में खाद्यान्नों के आन्तरिक संग्रहण एवं वितरण में भी काफी सहायता पहुँचाई गई। सहकारी अधिकोषों एवं समितियों के निरीक्षण आदि का कार्यभार भी इसने अपने कन्धों पर ले रखा है। आंध्र प्रदेश निर्माण होने पर इसका कार्य क्षेत्र नवीन मद्रास प्रदेश तक ही सीमित रह गया है।

पूर्वी पंजाब

विभाजन के उपरान्त पंजाब का प्रान्तीय सहकारी अधिकोष पाकिस्तान के हिस्से में चला गया, इसलिये प्रान्तीय सरकार को कुछ समय के लिये अम्बाला के केन्द्रीय अधिकोष को प्रान्तीय अधिकोष के सम्पूर्ण कार्य करने के लिये नियुक्त करना पड़ा है। विभाजन से पूर्व के प्रान्तीय अधिकोष से जो संचिति आदि का रुपया प्राप्त होना है उसे बिना सम्मिलित किये हुए, इस अन्तरिम प्रान्तीय अधिकोष की स्थिति इस प्रकार है :—

अंश पूंजी ६०,००० रु०, निक्षेप ६,५२,१०० रु०, प्रदत्त ऋण ६,६८,६०० रु०, सदस्य (केवल समितियाँ) ८६५ हैं।

मध्यप्रदेश सहकारिता अधिकोष

इस अधिकोष की स्थापना सन १९११-१२ में हुई थी। प्रारम्भ में इस अधिकोष की सदस्यता केवल व्यक्तिगत अंशधारियों को ही उपलब्ध थी। केन्द्रीय अधिकोषों को अपना अतिरिक्त धन इसी अधिकोष में रखना पड़ता था। बाद में इन केन्द्रीय अधिकोषों को भी अंश खरीदकर सदस्यता प्राप्त करने का अधिकार दे दिया गया। सन १९१७-१८ में केन्द्रीय

अधिकोषों को इस अधिकोष में पूर्वाधिकारी अंशों के रूप में अपनी संचिति रखनी पड़ती थी। इस प्रकार यह अधिकोष मिश्रित (mixed) वर्ग में आता है। सन् १६२१ के प्रारम्भ में यह अधिकोष आर्थिक संकट में फँस गया था। राज्य सरकार की सहायता से उस समय यह संकट टल सका। यह प्रान्तीय अधिकोष अपने निक्षेपकर्त्ताओं को निक्षेप-रसीद के आधार पर कर्जा दे सकता है। इसके लिये राज्य सरकार ने सहकारिता अधिनियम की धारा २६ (१) से इस अधिकोष को मुक्त कर दिया है। इसकी सदस्यता १,६२२ व्यक्तियों और २१८ संस्थाओं ने ग्रहण कर रखी है। सन् १६४६-५० में ५६० व्यक्तियों को ४ करोड़ रुपया और ५८ सहकारी संस्थाओं को १½ करोड़ रुपया उधार दिया गया था।

इस अधिकोष की अंश पूंजी १० लाख से ऊपर है और संक्षिप्त कोष ८ लाख से ऊपर है। उधार रुपया देने का ब्याज समय-समय पर परिवर्तित होता रहा है। अधिक से अधिक ब्याज ६ प्रतिशत रहा है। इस संस्था का लाभांश भी यथोचित रहा है। गत वर्षों में लाभांश की दर ५ प्रतिशत रही है। आजकल इसकी नीति बहुत कुछ व्यावसायिक हो चली है। इसकी १२ शाखाएँ हैं और लगभग ६५ प्रतिशत कर्ज व्यक्तिगत ऋण-धारियों को दिये गये हैं। ये सब बातें इस बात की परिचायक हैं कि यह अधिकोष व्यापारिक क्षेत्र में पदार्पण कर रहा है जो कि प्रान्तीय सहकारी अधिकोष के लिये अनुपयुक्त होगा, क्योंकि व्यापारिक क्षेत्र में काफी साधन-सम्पन्न अन्य अधिकोषण संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। व्यावसायिक क्षेत्र में युद्ध-जनित परिस्थितियों के कारण जो लाभ-प्राप्ति हुई है उसके प्रति प्रान्तीय अधिकोष ममता नहीं त्याग सके। अल्पकाल में चाहे उनकी यह नीति

निश्चित रूप से लाभप्रद सिद्ध हुई हो, किन्तु दीर्घकाल के लिये सुखदायी नहीं है। इसके अतिरिक्त सहकारिता के सिद्धान्तों की आत्म-रक्षा, कम से कम प्रांतीय सहकारी अधिकोष जैसी महत्त्व-पूर्ण संस्थाओं को यदि कुछ क्षति के रूप में त्याग करके भी करनी पड़े, तो कोई हिचकिचाहट पैदा नहीं होनी चाहिए। प्रदेशों के पुर्नगठन पर, यह अधिकोष विदर्भ का प्रान्तीय अधिकोष बना और हिन्दी भाषी १४ जिलों के लिये प्रान्तीय अधिकोष की जबलपुर शाखा को महाकोशल प्रान्तीय अधिकोष के रूप में गठित किया गया। इस समय नवीन मध्यप्रदेश की सम्पूर्ण इकाइयों के लिये केवल एक पुर्नगठित प्रान्तीय अधिकोष, जबलपुर में कार्य कर रहा है। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने भी केन्द्रीय अधिकोषों को अल्पकालीन ऋण प्रदान करने के लिये समय-समय पर ऋण प्रदान किये हैं। सन् १९५३ में इस मद में ७३ लाख रुपये लिये थे। सन् १९५४ के लिये १३५ लाख रुपया स्वीकृत किया गया। इस ऋण पर केन्द्रीय अधिकोष ने केवल २ प्रतिशत वार्षिक ब्याज लगाया है, जो कि शासकीय अधिकोषण दर से १½ प्रतिशत कम है। केन्द्रीय अधिकोष इससे अपने अन्य ऋणों के ब्याज को कम करने में सफल हो सकते हैं।

: १० :

भू-प्राधि अधिकोष

(Land Mortgage Banks)

प्रत्येक देश की कृषि के लिये यथोचित विकास के हेतु दीर्घकालीन ऋणों की आवश्यकता है। जब तक दीर्घकालीन ऋणों की उचित व्यवस्था न हो, तब तक कृषिगत भूमियों में स्थायी सुधार नहीं किये जा सकते। इन स्थायी सुधारों के लिये बहुधा ऋण राशि अतुल होती है, जो कि सामान्यतया सहकारी प्रत्यय समिति (Co-operative Credit Society) के सामर्थ्य के बाहर है तथा इसके अतिरिक्त यह ऋण बहुधा २० से लेकर ३० वर्ष तक की अवधि के लिये रहता है। सामान्य प्रत्यय प्रदान करनेवाली कोई भी अभिकर्त्तृत्व इतने दीर्घकाल के लिये अतुल राशि उपलब्ध नहीं कर सकती। यदि कोई एक दो प्रत्यय समितियां इतनी सामर्थ्यशालिनी हुईं कि वे कुछ अंशों में दीर्घ-कालीन ऋणों में योगदान दे सकती हैं, तो उससे, दीर्घकालीन ऋणों की जो जटिल समस्या है उसका कोई आंशिक हल भी प्राप्त नहीं हो पाता। अनुमान किया गया है कि भारतवर्ष जैसे प्राचीन प्रणालियों द्वारा कृषि करनेवाले अर्ध-विकसित देश के लिये दीर्घकालीन ऋणों की राशि अनुमानतः पाँच सौ करोड़ रुपया होगी, इसलिये सामान्य प्रत्यय समितियां इस क्षेत्र से जितनी दूर रहें, उतना ही उत्तम रहेगा। व्यापारिक अधिकोषों को भी, जो

कि काफी सामर्थ्यशाली होते हैं और अपने देश में जिनकी संख्या काफी है, इस क्षेत्र में पदार्पण करते हुए सबसे बड़ा भय इस बात का बना रहता है कि उनका धन कहीं स्थायी रूप से कृषि में न फंस जाय। उन्हें सदैव अपनी राशियाँ तरल रखने के उद्देश्य से अल्पकालीन ऋणों में ही विनियोग करना पड़ता है। दीर्घकालीन ऋणों की, कृषि के लिये व्यवस्था करने में इस लिये इन व्यापारिक अधिकोषों को भी कोई कार्यशील भाग नहीं लेना चाहिये। व्यावहारिक रूप से भारतीय व्यापारिक अधिकोष प्रारम्भ से ही इस दिशा में काफी सजग रहे हैं और उन्होंने कृषिगत दीर्घकालीन ऋणों में कोई विशेष भाग नहीं लिया। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से, जैसा कि उपर्युक्त वर्णन से प्रकट हो गया होगा, यह उचित भी है।

विभिन्न देशों के अनुभवों का आश्रय लेते हुए निस्संकोच यह कहा जा सकता है कि कृषिगत दीर्घकालीन ऋणों के लिये, अतिरिक्त अभिकर्तृत्व होनी चाहिये। इसलिये भू-प्राधि अधिकोषों की आवश्यकता अनुभव होती है, जो कृषक की भूमि को रेहन करके उसे उसकी आवश्यकताओं के अनुसार दीर्घकालीन ऋण, भूमि पर स्थायी सुधार करने के लिये उपलब्ध कर देते हैं। बन्धक या रेहन रखी हुई भूमि प्राधिकाल में स्वयं कृषक के ही पास रहती है। केवल उस भूमि सम्बन्धी अधिकार-प्रलेख भू-प्राधि अधिकोष पदाधिकारियों के अधिकार में रहते हैं। भू-प्राधि अधिकोषों से उत्तम अन्य संस्था इस दिशा में अभी तक किसी भी देश में सफलतापूर्वक कार्य करती हुई दृष्टिगोचर नहीं हुई है। इसलिये भू-प्राधि अधिकोष ही वह सर्वोत्तम संस्था है, जिसके द्वारा कृषकों की दीर्घकालीन ऋण की समस्या का उचित समाधान किया जा सकता है।

भू-प्राधि अधिकोषों की सदस्यता

प्राधि अधिकोषों की सदस्यता काफी विस्तृत क्षेत्र में वितरित रहनी चाहिये और उसके सदस्य न केवल वे कृषक ही बन सकते हैं, जो इससे किसी भावी तिथि पर ऋण लेंगे, बल्कि ऐसे व्यक्ति भी उसकी सदस्यता प्राप्त कर सकते हैं, जो सम्भवतः कभी भी उस अधिकोष से भू-प्राधि ऋण नहीं लेने-वाले हैं। इस प्रकार से प्रत्येक भू-प्राधि अधिकोष की सदस्यता दो वर्ग के सदस्यों में विभाजित हो जाती है:—

(१) कृषिहर सदस्य (२) अकृषिहरसदस्य

प्रथम वर्ग के सदस्य बहुधा कृषक होते हैं, जिनके पास अपनी निजी कृषिगत भूमि है। बहुधा इस वर्ग के सदस्य छोटे हैसियतवाले थोड़ी भूमि के किसान होते हैं, जिन्हें स्थायी भूमि सुधारों के लिये दीर्घकालीन कृषिगत ऋणों की आवश्यकता रहती है।

द्वितीय वर्ग के सदस्य बहुधा धनिक वर्ग के वाणिज्य व्यवसायन करनेवाले ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो कि ग्रामों से दूर, नगरों में बसते हैं और जिन्हें अपने अतिरिक्त धन को दीर्घकालीन ऋणों के लिये, भू-प्राधि अधिकोष के द्वारा दिलाने में संकोच नहीं है। इस वर्ग के सदस्य भी स्वतः कोई ऋण कदापि नहीं लेते। वे बहुधा कृषिगत भूमियों के भूपति भी नहीं होते।

इस प्रकार भू-प्राधि अधिकोषों में इन दो वर्गों के सदस्य रखने का एक मुख्य उद्देश्य होता है। भू-प्राधि अधिकोषों के लिये अतुल धनराशि की आवश्यकता पड़ती है, जो कि प्रथम वर्ग के कृषक सदस्य अपने सामान्य साधनों में से एकत्रित नहीं कर सकते। इसलिये उन्हें धनिक वर्ग के उन व्यक्तियों के भी

सहयोग की अनिवार्य रूपेण आवश्यकता प्रतीत होती है, जिनके पास धन प्रचुर मात्रा में है और जो उसका स्वयं विशेष लाभ नहीं उठा पा रहे हैं तथा जिन्हें भू-सम्पत्ति आदि के रेहन पर पर्याप्त धनराशियां उधार देते हुए कोई आपत्ति भी नहीं है। इस प्रकार से भू-प्राधि अधिकोषों का क्षेत्र काफी विस्तृत हो जाता है और उसे उस क्षेत्र में, जो कि बहुधा एक तालुका या जिला होता है प्रतिस्पर्द्धा रहित क्षेत्र प्राप्त हो जाता है। दूसरे, इसके अतिरिक्त इन अधिकोषों के संचालन और व्यवस्था में कानून, अर्थशास्त्र, अर्थ-आयोजन आदि विभिन्न प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, जो सामान्य कृषकों में मिलना, भारत जैसे अर्ध-विकसित देश में दुर्लभ है। इस कारण भी नगर के शिक्षित तथा प्रतिष्ठित व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य हो जाता है। अनुभव से यह देखने में आया है कि इन अधिकोषों की सदस्यता, उस क्षेत्र के प्रत्येक गांव के कृषकों पर अनिवार्य रूप से नहीं लादनी चाहिये, यद्यपि कोई भी व्यक्ति भू-प्राधि अधिकोष से उस समय तक ऋण प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक कि वह उस संस्था का सदस्य न हो। इसका यह अर्थ नहीं होना चाहिये कि कृषक केवल ऋण लेने के लिये ही सदस्यता प्राप्त किया करें, बल्कि उनमें सदस्य बनने का उत्साह पैदा किया जाय और उन्हें इस प्रकार की संस्थाओं का महत्व समझाया जाय, जिससे वे इन संस्थाओं के स्थायी सदस्य बनें और इनकी सुव्यवस्था में योग दें, अन्यथा कृषक ऋण लेने के बाद सदस्यता त्याग देते हैं। ऐसे सदस्य भू-प्राधि अधिकोषों की उन्नति में कोई योग नहीं देते। अपना स्वार्थ सिद्ध किया और किसी प्रकार का कोई योगदान दिये बिना ही स्वार्थ सिद्ध होने के उपरान्त संस्था को छोड़ दिया।

भू-प्राधि अधिकोषों की अन्य समस्याएं

भारतवर्ष में भू-प्राधि अधिकोषों की सन १९५०-५१ में संख्या इस प्रकार थी :—

(अ) केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष

१.	संख्या	५
२.	सदस्यता	९,८४८
३.	कार्यवाहक पूंजी	७.७२ करोड़ रु०
४.	प्रदत्त ऋण	१.३२ करोड़ रु०

(ब) प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष

१.	संख्या	२८६
२.	सदस्यता	२,१३,०६३
३.	कार्यवाहक पूंजी	६.६५ करोड़ रु०
४.	प्रदत्त ऋण	१.२९ करोड़ रु०

मद्रास, बम्बई, उड़ीसा, मैसूर, त्रावनकोर-कोचीन और मध्यप्रदेश आदि राज्यों में केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष स्थापित हैं। इनके ऋणों की मात्रा दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। युद्ध-काल में कुछ समय के लिये ऋणों की मांग घट गयी थी और ऐसा आभास होने लगा था कि कृषकों को इन संस्थाओं से ऋण लेने के लिये कोई आकर्षण नहीं है, किन्तु युद्धोपरान्त काल की विभिन्न विकास-योजनाओं ने, वर्षों से सोये हुये किसानों को कुछ जागृत-सा कर दिया है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार की खाद्य के क्षेत्र में अपनायी गयी 'स्वावलम्बन की नीति' के द्वारा भी, 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन के अतिरिक्त, कृषकों को अपनी भूमि पर स्थायी सुधार करने के लिये प्रोत्साहन मिला है। इसलिये भू-प्राधि अधिकोषों की गतिविधियां गत चार पांच

वर्षों में काफी उत्साहवर्धक रही हैं। प्रादेशिक राज्य सरकारें भी इन गत पांच वर्षों में समय-समय पर यथोचित ऋण प्रदान करके इन अधिकोषों को आर्थिक सहायता प्रदान करती रही हैं।

भू-प्राधि अधिकोष बहुधा पाताल तोड़ कुआं (tube-wells) लगाने के लिये, ट्रैक्टर खरीदने के लिये तथा ऐसी भूमियों को तोड़कर कृषि-योग्य बनाने के लिये, जो इससे पूर्व कृषि कार्यों के लिये उपयोग में नहीं लायी गई थीं, ऋण प्रदान करते हैं। इन अधिकोषों को अपना कार्यक्षेत्र विस्तृत करने के लिये काफी अवसर है, किन्तु वे उसका पूरा फायदा नहीं उठा पाते। इसके भी कुछ खास कारण हैं। इन कारणों में से सर्वप्रथम हमारे देश की उप-भाटकी प्रणालियां (tenancy systems) हैं। प्रत्येक प्रदेश में विभिन्न वर्ग के कृषक रहते हैं, जिनके भूमि संबंधी अधिकार भी भिन्न-भिन्न होते हैं। वे भूमि संबंधी अधिकार बहुधा इतने पेचीदा हैं कि उनको समझना अधिकोष के पदाधिकारियों के लिये सामान्यतः बहुत कठिन हो जाता है। विभिन्न न्यायालयों के विभिन्न निर्णयों ने इस समस्या को और भी जटिल बना दिया है। कानून की दृष्टि से निर्णयों में अन्तर होना कानून की प्रगति का उद्‌बोधक है, किन्तु दीर्घकालीन ऋण प्रदान करनेवाली अभिकर्तृत्व के दृष्टिकोण से इस प्रकार के परिवर्तनशील निर्णय बहुधा अहितकर हो जाते हैं, क्योंकि जिस व्यक्ति को संस्था ने ऋण दिया है, उसीके खानदान का कोई अन्य व्यक्ति निकट भविष्य में उस ऋण लेनेवाले व्यक्ति के भूमि सम्बन्धी अधिकार पर विरोधी वाद प्रस्तुत करता है और न्यायालय का निर्णय उस वाद प्रस्तुतकर्ता के पक्ष में हो जाता है, तो ऐसी दशा में भू-प्राधि अधिकोष के पास से उस भूमि के भू-अधिकार-प्रलेख विजयेता को दिला दिये जाते हैं और उस

भू-प्राधि अधिकोष के पास अपने कर्जदार से कर्ज वसूल करने के लिये कोई साधन नहीं रह जाता है।

दायित्व (Liability) :—जिस समय भू-प्राधि अधिकोष भारतवर्ष में स्थापित होना प्रारम्भ हुए, उस समय सदस्यों का दायित्व असीमित रखा गया, किन्तु कुछ समय उपरान्त यह अनुभव हुआ कि असीमित दायित्व रखने से धनिक व्यक्ति उन अधिकोषों से अलग रह जाते थे, इसलिए प्रत्याभूत दायित्व (guaranteed liabilities) स्वीकार किया जाना उपयुक्त समझा गया। कुछ भू-प्राधि अधिकोष सीमित दायित्व के आधार पर भी स्थापित किये गए हैं। अब यह स्थिति पैदा हो गयी है कि भू-प्राधि अधिकोषों के भावी विकास के लिये प्रत्याभूत दायित्व और सीमित दायित्व में से किसको अपनाया जाय। मेरे अपने विचार में केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोषों के लिये प्रत्यय भूत दायित्व स्वीकार करना न्यायोचित होगा। केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोषों के लिये जो प्रत्याभूत दायित्व अपनाया जाय, वह उसके अंशधारी सदस्य के अंशों की धनराशि से अठगुने से दस गुने तक हो सकता है; जबकि प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष में सीमित दायित्व अंशधारी द्वारा क्रीत अंश की पूर्ण प्रदत्त राशि तक ही सीमित रहेगा।

ऋण प्रदान करना (Granting Loans) :—ऋण बहुधा भू-प्राधि अधिकोषों के सदस्यों को ही प्रदान किये जाते हैं। ऋण स्वीकृत करते हुए सर्वप्रथम ऋण याचक के अधिकार में कितनी भूमि है, यह देखना पड़ता है तथा उस भूमि की आय से वह कितनी राशि ऋण शोधन के लिये प्रदान कर सकेगा। ऋण प्रदान करने के लिए, कोई सदस्य कितनी राशि प्रदान कर सकता है, यह निर्णय कर सकना बहुत ही दुर्लभ है, क्योंकि जो

ऋण भू-प्राधि अधिकोष द्वारा स्वीकृत किये जाते हैं, वे बहुधा दीर्घकालीन होते हैं। दीर्घकाल के अन्दर कौन-कौन परिस्थितियाँ उसकी शोधन-सामर्थ्य पर प्रभाव डालती रहेंगी, पूर्व-कल्पित कर लेना असम्भव है। इसलिये शोधन सामर्थ्य केवल अल्पकाल के लिये ही अनुमान की जा सकती है। भूमि की उत्पादन-शक्ति की अनिश्चितता तथा भारतीय कृषक के पारिवारिक दायित्वों की अभिवृद्धि की असमानता कृषक के शोधन सामर्थ्य के निर्णय करने में बहुत कठिनाइयाँ पैदा कर देती हैं। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष में कृषि-वस्तुओं के मूल्यों में भी समय-समय पर परिवर्तन होते रहते हैं, जिससे कृषक की आय सदा समान नहीं रहती। कुछ लेखकों का यह विचार है कि ऐसी जटिल परिस्थितियों में भू-प्राधि अधिकोषों को कृषकों से भूमि बन्धक अधिकार के अतिरिक्त कोई अन्य अतिरिक्त प्रतिभूति भी ले लेनी चाहिये। भारतीय कृषकों के पास प्रत्यय सामर्थ्य का इतना अधिक अभाव है कि यदि ऋण केवल प्रत्यय सामर्थ्य के आधार पर भी प्रदान करने प्रारम्भ किये गये, तो सम्भवतः कुछ थोड़े-से बड़े-बड़े भूमि-पतियों को छोड़कर सामान्य कृषकों को ऋण मिलना तो दुर्लभ ही हो जायगा, क्योंकि उनकी भूमि का मूल्यांकन करने के उपरांत उससे प्राप्त आय के साथ-साथ उस पर निर्भर रहनेवाले व्यक्तियों के व्यय बहुधा आय से अधिक ही जाते हैं और इसलिये सामान्य कृषकों की शोधन सामर्थ्य न्यूनतम (negligible) ही है। उनसे अतिरिक्त प्रतिभूति की माँग करना तो समस्या को और भी विषम बना देना होगा, क्योंकि "असंख्य भारतीय कृषक ऋण-भार में ही पैदा होते हैं और ऋण-भार शोधन करते-करते ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं।" *

* Royal Commission on Agriculture in India, 1916.

कुछ अन्य लेखकों ने भूमि के मूल्यांकन का भी कुछ काल उपरान्त पुनर्मूल्यांकन करने के लिए जोर दिया है। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से उनके इस विचार को असङ्गत नहीं कहा जा सकता क्योंकि भारतवर्ष में कृषिगत भूमियों के मूल्य में काफी परिवर्तन होते हैं। सन् १९३० में जिस भूमि का मूल्य ५०० रु० रहा होगा, युद्ध काल में (सन् १९४४) में उसका मूल्य लगभग ५,००० रु० अनुमानित किया गया है अर्थात् १५ साल की अवधि के बीच भूमि के मूल्यों में १० गुना परिवर्तन सम्भव हो सका। आनेवाले भावी काल में इन भूमियों का मूल्य कितना गिर सकेगा, यह भी कल्पना करना कठिन ही है। यह तो निश्चित है कि भूमियों के मूल्य काफी गिरेंगे, किन्तु सम्भवतः १९३० वाले मूल्यों पर पुनः न पहुँचा जा सकेगा। सम्भव है, १९६० में अर्थात् १९४५ से १५ साल बाद उपरोक्त भूमि का मूल्य १½/२ हजार के बीच रहे। जब-जब भूमियों का पुनर्मूल्यांकन भू-प्रधि अधिकोष द्वारा प्रदत्त ऋण के लिये आवश्यक प्रतिभूति (security) से कम हो जायेगा तभी अधिकोष पदाधिकारी कृषक से अतिरिक्त प्रतिभूति की पुनः माँग कर बैठेंगे और जैसा कि ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है, सामान्य कृषक के पास अतिरिक्त प्रतिभूति देने के लिए कोई व्यवस्था नहीं रहती। इस प्रकार जो बातें सैद्धांतिक दृष्टिकोण से यद्यपि उपयुक्त हैं, उनको व्यावहारिक दृष्टि से देखा जाय तो भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल नहीं हैं, चाहे वे किसी भी यूरोपीय देश में सफलतापूर्वक कार्यान्वित की गई हों। मेरे विचार में सहकारिता के आधार पर संचालित विभिन्न प्रवृत्तियों की भारत में असफलता का एक मूल कारण यह रहा है कि हमने सैद्धांतिक दृष्टिकोण पर जोर दिया और व्यावहारिक पक्ष को समझने की कोशिश ही नहीं की है। भारतीय भू-प्राधि अधिकोषों द्वारा प्रदत्त दीर्घकालीन ऋण,

इसलिये ऋण याचक की नैतिकता के आधार पर प्रदान किये जाने चाहिए, न कि उसके भूमि के मूल्यांकन के आधार पर या ऋण शोधन की सामर्थ्य के आधार पर।

अभी तक बहुधा ऋण, कृषक के अधिकार में जो भूमि है, उसके मूल्यांकन के $\frac{3}{4}$ भाग तक प्रदान किये जाते हैं और प्रत्येक ऋण याचक को उसके अतिरिक्त दो व्यक्ति जमानती (Surity) देने पड़ते हैं। बहुधा ऋण १५ वर्ष के लिये दिया जाता है, किन्तु ऋण की अवधि भी २०–२५ साल तक की बढ़ा देनी चाहिये। कुछ देशों में तो ४० साल तक के ऋण भी दिये जाते हैं, किन्तु भारतवर्ष में २०–२५ साल के ऋण अधिक उपयुक्त रहेंगे, क्योंकि यहां के व्यक्ति की औसत उम्र लगभग ३२ वर्ष है (स्वतंत्रता से पूर्व भारतीय की औसत आयु २७ वर्ष की थी, सन् १९५३ से नये एक्चूरियल आधार पर ३२ वर्ष की अनुमानित की गई है।) इस प्रकार ऋण, ऋण याचक के जीवन-काल में ही सरलतापूर्वक शोधन किये जा सकते हैं।

ऋणों पर ब्याज की दर भी बहुत कम होनी चाहिये। भारतवर्ष में बहुधा प्रान्तीय सरकार ऋण की दर निश्चित कर देती है। मद्रास में ऋण देने की दर ६ प्रतिशत है। भू-प्रधि अधिकोषों को बहुधा ऋण-पत्रों से, प्रान्तीय सहकारी अधिकोषों से और दूसरे अन्य साधनों से राशियां २$\frac{1}{2}$ प्रतिशत से लेकर ३$\frac{1}{2}$ प्रतिशत तक प्राप्त हो जाती हैं। इस प्रकार उनका निजी लाभ २$\frac{1}{2}$/३ प्रतिशत का रह जाता है। छः प्रतिशत ब्याज की दर भारतवर्ष में अधिक समझी जाती है। सन् १९४४ में केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त कृषि-अर्थ-सह-समिति (Agricultural Finance Sub-Committee) ने इस दर को ४ प्रतिशत पर लाने की सिफारिश की है, किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में इस

सिफारिश पर निकट भविष्य में कोई निर्णय होने की सम्भावना नहीं है, क्योंकि भारत सरकार ने बैंक की दर (bank rate) ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दी है।

ऋणों का उद्देश्य :—भू-प्राधि अधिकोषों द्वारा ऋण, विकास-कार्यों के लिये दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त कृषकों के पुराने ऋणों के लिये भी ऋण प्रदान किये जा सकते हैं। पुराने कर्जों के शेष धन के लिये अधिकतर याचिकाएँ प्राप्त होती रहती हैं, किन्तु उन ऋणों में भू-प्राधि अधिकोषों को अधिक राशि फँसाना उपयुक्त न होगा, क्योंकि आज हमारे सामने भूमियों से अधिक अन्न उपजाने की विषम समस्या उपस्थित है, जिसका निकट भविष्य में समाधान करना उस समय तक सम्भव नहीं है, जब तक कि कृषकों को पुरानी पद्धतियों को छोड़कर आधुनिक कृषि-पद्धतियों को अपनाने के लिये पर्याप्त आर्थिक सहायता उपलब्ध न की जा सके।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व सन् १९३७ में भू-प्राधि अधिकोषों के द्वारा दिये जानेवाले ऋणों की जाँच करने पर पता चला था कि ९८.६ प्रतिशत भू-प्राधि ऋण कृषकों के परम्परागत चले आये पुराने ऋणों के चुकाने के लिए, लिये गये थे। इससे ज्ञात होता है कि द्वितीय महायुद्ध से पूर्व विकास-कार्यों के लिये ऋण देने को विशेष प्रोत्साहन नहीं था। बहुधा ऋण अनुत्पादक ही रहते थे। इस प्रकार भू-प्राधि अधिकोषों के स्थापित किये जाने का जो प्रमुख लक्ष्य है, उसको बिलकुल विस्मृत कर दिया जाता था। युद्धकालीन ६ वर्षों में और युद्धोत्तर काल में कृषि-वस्तुओं के मूल्यों में अठगुनी अभिवृद्धि हुई है, इससे कृषकों की ऋण शोधन सामर्थ्य में काफी सुधार हुआ है, जिससे पैतृक ऋणों के शोधनार्थ आवेदन-पत्रों की संख्या बहुत कम हो गई है।

दूसरे युद्धोत्तर काल में भावी विकास की विभिन्न संयोजनाओं पर समय-समय पर विचार होता रहता है। १९५१ में केन्द्रीय सरकार ने जिस पंचवर्षीय योजना को स्वीकार किया उसमें भी कृषि-विकास के ऊपर ही विशेष महत्व दिया गया है और उस योजना की अतुल राशि का लगभग ६२ प्रतिशत व्यय कृषि तथा सिंचाई आदि पर होना निश्चित हुआ है। ऐसी दशा में भू-प्राधि अधिकोषों को भी अपनी नीति परिवर्तित कर लेनी चाहिये और दीर्घकालीन ऋण केवल कृषि-भूमियों के स्थायी विकास के लिये ही दिये जायँ।

मद्रास प्रदेश में भू-प्राधि अधिकोष का उद्गम और विकास

मद्रास प्रदेश में भू-प्राधि अधिकोषों को बहुत सफलता प्राप्त हुई है। दीर्घकालीन ऋण प्रदान करने के लिये मद्रास प्रांत में जितना अधिक प्रचार इन संस्थाओं का हुआ है, उतना भारत के किसी भी प्रदेश में अन्यत्र नहीं हुआ है। सन १९२४-२५ में भू-प्राधि अधिकोषों की संस्था की स्थापना के लिये एक योजना मद्रास प्रांत की सरकार ने स्वीकार की थी। इस योजना के अनुसार सन १९२४ से पूर्व मद्रास प्रांत में अल्पकालीन व दीर्घ-कालीन कृषि-ऋणों के प्रत्यय समितियों से प्राप्त करने की जो गलत प्रणाली प्रचलित थी वह त्याग दी गई। प्रारम्भिक प्रत्यय समितियां (१९२४-२५ की) भू-प्राधि अधिकोषों की योजना के उपरान्त केवल अल्पकालीन ऋण प्रदान करने के लिये और भू-प्राधि अधिकोष, दीर्घकालीन ऋण प्राप्त करने के लिये अपनाये जाने लगे। इस प्रकार अल्पकालीन ऋणों के लिए तथा दीर्घ-कालीन ऋणों के लिए दो भिन्न वर्ग की संस्थाएं कार्य करने

लगीं। आजकल १२६ प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष तथा एक केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष इस प्रान्त में कार्य कर रहा है। मद्रास प्रांत में से, आंध्र प्रदेश का निर्माण हो जाने से, लगभग ४० प्रतिशत भू-प्राधि अधिकोष आंध्र प्रदेश में आ गये हैं। केन्द्रीय भू प्राधि अधिकोष के भी दो हिस्से कर दिये गये हैं और दो भिन्न संस्थाएं आंध्र और मद्रास में कार्य कर रही हैं। श्री के० सुब्रमनियम नायडू (Shri K. Subramaniyam Naidu). मद्रास प्रदेश में सहकारिता विभाग के संयुक्त पंजीयक, आंध्र प्रांत के पंजीयक नियुक्त किए गए हैं। आप काफी अनुभवी व्यक्ति हैं और विभिन्न देशों का भ्रमण आपने किया है।

केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष की स्थापना सन् १९२६ में हुई थी। सभी प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोषों ने तथा इसके अतिरिक्त लगभग ५६६ मनुष्यों ने सदस्यता प्राप्त कर रखी है। इस अधिकोष की कार्यवाहक अंश-पूंजी ५½ करोड़ है। इसके अतिरिक्त इसके पास २१ लाख की संचिति (reserve fund) है। इस संस्था ने प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोषों को काफी उदारता के साथ ऋण दिये हैं। यह अधिकोष अपनी उधारी ३ प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर से प्राप्त करता है।

प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोषों की अंश-पूंजी ३५ लाख है और इनकी संचिति ८ लाख है। सन् १९५०-५१ में इन अधिकोषों ने मद्रास में केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष से ४ करोड़ रुपया उधार लिया। इसके अतिरिक्त इन अधिकोषों की अपनी निजी कार्यवाहक पूंजी लगभग ४½ करोड़ रुपये की है। इन अधिकोषों के द्वारा केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष से लिये हुए ऋणों पर ४½ रु० वार्षिक ब्याज प्रदान किया जाता है। प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष कृषकों से ४½ से ५½ प्रतिशत वार्षिक ब्याज प्राप्त करते हैं।

इन अधिकोषों को गत वर्षों में संतोषजनक लाभ हुआ है और इन्होंने ४-५ प्रतिशत का लाभांश घोषित किया है। मद्रास के भू-प्राधि अधिकोषों ने बहुधा २० वर्ष के ऋण प्रदान किये हैं। प्रत्येक प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष एक ही तालुके में कार्य करता है। इनका एक अच्छा जाल-सा बिछा हुआ है। उधार लेनेवाले कृषक को उसकी भूमि के मूल्य के आधे के बराबर ऋण प्रदान किया जाता है। इस ऋण को देते समय कृषक की भूमि प्राधिकृत (mortgage) कर ली जाती है। मद्रास प्रांत में भी भूमि-सुधार ऋणों की अपेक्षा पैतृक ऋणों के शोधनार्थ लिए गए ऋणों की संख्या अधिक है। युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व इन अधिकोषों को अपने ऋण प्राप्त करने में काफी मुसीबतों का सामना करना पड़ता था। कुछ तालुकों में तो कई प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोषों को काफी हानि उठानी पड़ती थी। साधारणतया हानियां उन्हीं तालुकों में उठानी पड़ती हैं, जहां जनता अशिक्षित है और वह सहकारिता के उद्देश्यों का वास्तविक अर्थ भी नहीं समझती। इस प्रकार की असफलता के उदाहरण, बहुधा भावी प्रगति में बाधक सिद्ध हो जाते हैं।

ऋण-पत्रों का प्रचार :—केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष अपने अर्थ-साधनों की पूर्ति न केवल अंश पूंजी से ही करते हैं, बल्कि बहुत मात्रा में ऋण-पत्रों के द्वारा होती है। इन ऋण-पत्रों को निर्गमित करते समय बहुधा मूल्य वापिस करने की और समय-समय पर ब्याज शोधन करते रहने की प्रत्याभूति प्रादेशिक (प्रान्तीय) सरकार दे देती है। सन् १९२९ में जबकि मद्रास में केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष की स्थापना की गई थी, तब प्रांतीय सरकार कोई प्रत्याभूति नहीं देती थी। वह विशेषकर अवसाद (आर्थिक संकट) काल था। उन दिनों में भारतवर्ष की केन्द्रीय

सरकार को ६/६½ प्रतिशत पर ऋण प्राप्त हो रहे थे, इसलिये ऋण-पत्रों द्वारा उस समय राशि प्राप्त करना, बड़ी कठिन समस्या थी। इसके अतिरिक्त उस समय तक ऋण-पत्र प्रन्यासी प्रतिभूति (trusteeship securities) नहीं थे और इस कारण विनियोग करनेवाली संस्थाएं, उदाहरणार्थ बीमा कम्पनियां, ऋण-पत्र में रुपया विनियोग नहीं कर पाती थीं। सन् १९३६-३८ से परिस्थितियां बिलकुल परिवर्तित हो गई हैं। द्वितीय महायुद्धकाल में और तदोपरांत समयावधि में केन्द्रीय ब्याज की दर ३/३½ प्रतिशत रही है, इसलिये केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोषों की ३ प्रतिशत से लेकर ५ प्रतिशत ≈) तक वार्षिक ब्याज दर पर ऋण-पत्रों से राशियां पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होती रहीं। यह काल विशेषकर उत्कर्ष (boom) काल था, जिस समय धन की प्रचुरता समाज में पर्याप्त पाई जाती थी। तीसरे, ऋण-पत्र आजकल प्रन्यासी प्रतिभूति के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिये गये हैं। जो राशियां ऋण-पत्रों से प्राप्त होती हैं, उनका एक प्रन्यास ऋण-पत्र धारियों द्वारा नियुक्त प्रन्यासियों के संरक्षण में बना दिया जाता है। इसलिये बीमा कम्पनियां और शिक्षण संस्थाएं इन ऋण-पत्रों से निस्संकोच विनियोग कर सकती हैं। इसके अतिरिक्त प्रांतीय सरकार इन ऋण-पत्रों पर प्रत्याभूति (guarantee) देने लगी है। इन सब सुविधाओं के कारण ऋण-पत्र काफी प्रसार पा गए हैं। भारत का केन्द्रीय अधिकोष (Reserve Bank of India) भी इन ऋण-पत्रों में १०-२० प्रतिशत तक रुपया विनियोग कर देता है।

बम्बई प्रान्त में भू-प्राधि अधिकोषों का उद्गम और विकास

बम्बई प्रान्त का भू-प्राधि अधिकोषों के क्षेत्र में, मद्रास प्रदेश के बाद, द्वितीय स्थान है। इस प्रान्त में एक केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष है और इसके अतिरिक्त १६ प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष हैं। प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोषों में २७ हजार सदस्य हैं। केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष में ८२० सदस्य हैं। केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष की प्रदत्त पूंजी लगभग ६ लाख है और प्रारम्भिक अधिकोषों की प्रदत्त पूंजी ७½ लाख है और इसके अतिरिक्त इनके पास २ लाख की संचिति है। इनकी कार्यवाहक पूंजी लगभग ६५½ लाख है। यद्यपि इनकी प्रगति मद्रास प्रदेश के समान उत्साहजनक नहीं है, किन्तु अन्य प्रदेशों की अपेक्षा काफी संतोषजनक है। इस प्रांत में भी अधिक से अधिक २० साल की अवधि के ऋण प्रदान किये जाते हैं। व्यवहार में ऋण की अवधि उसके उद्देश्यानुसार भी परिवर्तित होती रहती है तथा ऋण-प्रभाग की मात्रा ऋणी की शोधन सामर्थ्यानुसार निश्चित की जाती है। ऋण-पत्रों पर प्रादेशिक सरकार की प्रतिभूति रहती है। प्रत्येक प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष का कार्यक्षेत्र एक जिला (district) रहता है। प्रत्येक जिले में कृषकों को दीर्घकालीन ऋणों के लिये प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष के द्वारा आवेदन-पत्र प्रेषित करना पड़ता है। किन्तु, जिन जिलों में प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष नहीं हैं, वहां प्रत्यय समिति के द्वारा आवेदन-पत्र, केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष से ऋण प्राप्त करने के लिए देना पड़ता है।

गत वर्षों में ब्याज की दर काफी संतोषजनक रही है। केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष बम्बई ने कुछ काल से भवन आदि निर्माण के लिये ऋण देना प्रारम्भ कर दिया है। कोई भी ऋण १० हजार से अधिक का नहीं दिया जाता। भवन आदि के निर्माण के लिये जो दीर्घकालीन ऋण प्रदान किये जाते हैं, उनकी प्रतिभूति बम्बई सरकार द्वारा अधिकोष को प्रदान की जाती है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार समय-समय पर अनुदान (grant) प्रदान करके अधिकोष को अधिक शक्तिशाली बनाने में योग देती है।

प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष, केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष से अपनी अंश पूंजी और संचिति के २० गुने तक ऋण प्राप्त कर सकता है। प्रत्येक प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष के संचालकगण (board of directors) में एक संचालक, पंजीयक (registrar) द्वारा, एक अन्य संचालक, केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष द्वारा और एक तृतीय संचालक केन्द्रीय सहकारी अधिकोष द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष ६½ प्रतिशत पर कृषकों को ऋण प्रदान करता है। कोई भी प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष ६½ प्रतिशत से अधिक लाभांश नहीं बांट सकता और कम से कम अपने उपार्जित लाभ का ५० प्रतिशत रक्षित संचिति की ओर स्थानान्तरित करना पड़ता है। बम्बई प्रान्त के केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष को भी ऋण-पत्रों द्वारा धन उपलब्ध करने का अधिकार प्राप्त है, जिनके मूल और ब्याज के शोधन करने की प्रत्याभूति राज्य सरकार देती है। ऋण-पत्रों को प्रन्यासी प्रतिभूति मान लिया गया है। ऋण-पत्रों के शोधनार्थ शोधन प्रणिधि (redemption fund) स्थापित करना वैध है।

मध्यप्रदेश में भू-प्राधि अधिकोषों का उद्गम और विकास

मध्यप्रदेश में भू-प्राधि अधिकोषों का प्रादुर्भाव मुश्किल से २० वर्ष पूर्व हुआ। सन् १९३४ में मेहकर (Mehkar) और अमरावती, दो स्थानों में भू-प्राधि अधिकोष आरम्भ किये गए। केवल आठ आदिवासियों ने कर्जा मांगा, जिसकी कुल राशि १,९२० रु० थी। प्रान्तीय सहकारी अधिकोष ही उस समय तक केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष का भी कार्य करता था। उस समय तक भू-प्राधि अधिकोषों का, भूमिधारी किसानों को उनके पैतृक ऋणों से मुक्ति दिलाना ही मुख्य लक्ष्य था। बहुत कम ऋण की, कृषि-पद्धति-सुधार व भूमि पर स्थायी सुधार करने के लिये, याचना की जाती थी। आज लगभग २५ प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष इस प्रदेश में कार्य कर रहे हैं, जिनकी सदस्यता ११ हजार है। इन अधिकोषों की प्रदत्त अंश पूंजी १½ लाख रुपये हैं। ब्याज की दर और इनकी संचिति ७१ हजार रुपये है। ब्याज की दर ऋण प्राप्त करने के लिये ४|५½ तक और ऋण देने के लिये ६½ से ७½ प्रतिशत तक है। प्रान्तीय अधिकोष ही अभी तक केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोषों को आर्थिक सहायता पहुंचाने के लिए ऋण-पत्रों का निर्गमन करते रहे हैं। प्रान्तीय सरकार इन ऋण-पत्रों के मूल और ब्याज दोनों के शोधन की प्रतिभूति प्रदान करती है। यह प्रथा सन् १९३५ से अपनायी गई। सन् १९४५ में इस प्रतिभूति की अवधि समाप्त हो गयी। किन्तु, सन् १९४६ में पुनः प्रान्तीय सरकार से प्रतिभूति नवकरण की याचना की गयी ,जो कि केवल ५ वर्ष के लिये और प्रदान की गई है। बहुधा, ऋण-पत्र २० वर्ष की अवधि के लिये निर्गमित किये गये हैं, किन्तु उनका शोधन १० वर्ष के बाद से ही प्रारम्भ हो जाता है। सहकारी समितियों का पंजीयक (registrar)

ऋण-पत्रधारियों की ओर के प्रन्यासी (trustee) के रूप में कार्य करता है। सन् १९३७ में भू-प्राधि अधिकोषों की ऋणों की वसूली बहुत कठिन हो चली थी। सन् १९३९ में ३४ हजार रुपये की राशि समय से अधिक काल तक बिना वसूल किये अप्राप्त पड़ी थी। भू-प्राधि अधिकोष अधिनियम सन् १९३७ द्वारा ऐसी राशियों को वसूल करने के लिये व्यवस्था की गयी थी। इस अधिनियम की धारा १० और १४ द्वारा कृषक की खड़ी फसल को विक्रय करके तथा कृषक की जायदाद को विक्रय करके वसूल किया जा सकता था। कुछ लोगों के विचार में इस संशोधन का दीर्घकाल में कुप्रभाव ही रहा, क्योंकि भविष्य में कृषकों ने भू-प्राधि अधिकोषों से ऋण लेना कम कर दिया गया। कुछ भू-प्राधि अधिकोष ब्याज की दर ६½/७ प्रतिशत न लेकर ९ प्रतिशत लेते हैं, जो कि बहुत अधिक हो जाती है।

भू-प्राधि अधिकोषों की एक सभा १९ सितम्बर १९३६ को प्रथम बार हुई थी। इस सभा में सरकार से निवेदन किया गया था कि अब उपयुक्त समय आ गया है, जबकि केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष मध्यप्रदेश में स्थापित कर देना चाहिये। उसके उपरान्त अन्य सभाओं में भी उस दिशा में प्रस्ताव रखे गए। किन्तु, अभी तक मध्यप्रदेश में केन्द्रीय भू-प्राधि अधिकोष स्थापित नहीं किया जा सका। सरकारी प्रवक्ताओं का यह कथन है कि भू-प्राधि अधिकोषों का व्यवसाय मध्यप्रदेश में इतना अधिक नहीं है कि उसके लिये प्रान्तीय सहकारी अधिकोष से भिन्न कोई अलग संस्था स्थापित करना जरूरी समझा जाय।

उत्तर प्रदेश में भू-प्राधि अधिकोषों का उद्गम और विकास

उत्तर प्रदेश, आसाम, पंजाब आदि प्रदेशों में भू-प्राधि अधिकोषों का कार्य कोई सन्तोषजनक नहीं है। उनकी प्रगति भी

कोई उल्लेखनीय नहीं रही है। केवल ६ प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोष उत्तर प्रदेश में कार्य कर रहे हैं, जिनकी सदस्यता में लगभग १,००० व्यक्ति हैं। इन अधिकोषों की अंश पूंजी ३८ हजार रुपया और संचिति १७ हजार रुपया है। सम्पूर्ण कार्यवाहक पूंजी लगभग २ लाख रुपया है। ये अधिकोष बहुधा ५ या ६ प्रतिशत ब्याज की दर से रुपया उधार देते हैं। उनकी भी उधारी वसूल करने की समस्या जटिल और विषम बनी हुई है।

पंजाब

यद्यपि प्रारम्भिक भू-प्राधि अधिकोषों की स्थापना में पंजाब भी काफी अग्रगण्य रहा, किन्तु व्यापक रूप से पंजाब में भू-प्राधि अधिकोष प्रचलित नहीं पाये। विभाजन से पूर्व १९४५–४६ के आंकड़ों के आधार पर उस प्रान्त में १३ भू-प्राधि अधिकोष कार्य कर रहे थे, जिनमें से चार की दशा बहुत ही शोचनीय थी। उनका समापयन (liquidation) हो चुका था। सन १९३८-३९ में इन अधिकोषों की कार्यवाहक पूंजी १३ लाख रुपया थी, किन्तु सन् १९४३–४६ में घटकर तीन लाख रुपया रह गयी थी, जिसमें से १½ लाख रु० अर्वाध समाप्त होने के बाद अप्राप्त पड़े थे।

भू-प्राधि अधिकोषों के भावी विकास के लिए प्रमुख सुझाव

भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश होते हुए भी भू-प्राधि अधिकोष आन्दोलन को सफल नहीं बना सका, बल्कि बड़े खेद की बात है कि पंजाब प्रान्त ने भी कोई सन्तोषजनक प्रगति नहीं दिखाई। केवल मद्रास प्रदेश ही उपरोक्त कथन का अपवाद कहा जा सकता है। देश के स्वतंत्र होने के बाद से कृषि-विकास, अधिक अन्न उपजाओ आन्दोलन तथा अन्य क्षेत्र में स्वावलम्बी बनने के प्रयासों को सफल बनाने के लिये

दीर्घकालीन ऋणों के लिये काफी माँग बढ़ी है। उसके लिये भू-प्राधि अधिकोषों का क्षेत्र नितान्त आवश्यक और व्यापक प्रतीत होने लगा है। इसलिये उनके विकास हेतु कुछ सुझाव दिये जा रहे हैं :—

१. भारत (स्वतन्त्र) के विभिन्न प्रदेश आज एक सार्वभौमिक गणतन्त्र सत्ता के सूत्र में बंधे हैं। ऐसी दशा में सभी प्रदेशों के भू-प्राधि अधिकोषों को *समान नीति* का अनुसरण करना चाहिये।

२. किसी भी भू-प्राधि अधिकोष द्वारा *अल्पकालीन ऋण* नहीं दिये जाना चाहिये।

३. दीर्घकालीन ऋणों के लिये भी *समान अवधि निश्चित की जाना* चाहिये।

४. सभी अधिकोषों द्वारा प्रत्येक प्रान्त में ऋण पर *ब्याज लगभग समान दर से* लिया जाना चाहिये। ब्याज की दर ६½ प्रतिशत उचित रहेगी। कुछ लेखकों ने यह भी सुझाव दिया है कि ब्याज की दर केवल ४ प्रतिशत रहनी चाहिये, किन्तु यह सुझाव वर्तमान परिस्थितियों में बिलकुल असंभव हो जायेगा, क्योंकि ३½ प्रतिशत ब्याज की दर पर बहुत मुश्किल से स्वयं केन्द्रीय सरकार को सार्वजनिक ऋण आवश्यकतानुसार प्राप्त हो रहे हैं, इसलिये भू-प्राधि अधिकोषों द्वारा यह उस समय तक सम्भव न होगा; जब तक कि उन्हें २½ प्रतिशत ब्याज की दर पर केन्द्रीय अधिकोष से अथवा राज्य की सरकारों से, जनता से, सार्वजनिक निक्षेपों या ऋण-पत्रों द्वारा पर्याप्त राशियाँ प्राप्त न हो सकें। इनमें से किसी साधन से भी २½ प्रतिशत ब्याज पर राशियाँ प्राप्त होना वर्तमान परिस्थितियों में असम्भव है।

५. जिन किसानों पर ऋण अवधि के उपरांत भी शेष पड़ा रहता है उसे वसूल करना एक दुर्लभ समस्या है। कुछ प्रान्तों में पंच फैसले व समझौते आदि की व्यवस्था अवश्य की गयी है, किन्तु वे साधन अधिक प्रभावशाली सिद्ध नहीं हुए हैं।

६. राज्य सरकारों द्वारा भू-प्राधि अधिकोषों को बहुत ही उदार सहायता आर्थिक रूप में प्राप्त होती रहनी चाहिये, क्योंकि अन्य देशों का अनुभव स्पष्ट कर देता है कि बिना उदार सहायता के इस प्रकार के अधिकोष सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। इसलिये यह सुझाव है कि प्रत्येक राज्य सहकारी आर्थिक सहायता (subsidy) प्रदान किया करे।

७. प्रांतों में भू-अधिकार संबंधी अभिलेख (records) उचित रूप से नहीं रखे जाते, क्योंकि जिन पटवारी आदि पदाधिकारियों द्वारा ये अभिलेख तैयार किये जाते हैं, वे बहुधा बहुत कम पढ़े-लिखे, रिश्वतखोर पाये जाते हैं। उनके कृत्यों के कारण अनावश्यक अदालती कार्यवाहियाँ भू-प्राधि अधिकोष को प्राधि-भूमियों के अधिकारों के निर्माणार्थ करनी पड़ती हैं, जिससे काफी निरर्थक खर्चा बढ़ जाता है।

८. भू-प्राधि अधिकोष को बहुधा ऋण प्राधिकृत कृषक द्वारा भूमि के मूल्यांकन के आधार पर ही नहीं दे देना चाहिए, बल्कि उसकी शोधन-सामर्थ्य पर भी विचार कर लेना चाहिये।

: ११ :

उपभोक्ता भण्डार

(Consumers' Stores)

भारतवर्ष के सामान्य व्यक्ति की औसत आय संसार के विभिन्न देशों की तुलना में सबसे दयनीय है। सम्भवतः निर्धनता में पाकिस्तान और इन्डोनेशिया आदि कुछ अविकसित देशों को छोड़कर सबसे नीचे नम्बर आता है। क्रय-शक्ति के विषय में ऐसी दयनीय दशा होते हुए भी हमारे सामने अपनी इस अल्प आय का उचित ढङ्ग से उपभोग करने के साधन उपलब्ध नहीं हैं। उपभोक्ताओं को वितरणियों की गतिविधि के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी नहीं रहती और इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े सेठ-साहूकार विक्रेताओं के समक्ष उपभोक्ताओं की सौदा करने की शक्ति (bargaining power) भी बहुत कम है, क्योंकि उस साहूकार के आय के साधन अनेक हैं। यदि उसकी वस्तुएँ कुछ दिन न भी बिकें तो उसको किसी भी प्रकार की हानि नहीं होती, किन्तु सामान्य उपभोक्ता के लिये रोज कमाना, रोज भोज्य-पदार्थ खरीदना और फिर उपभोग करना उसके जीवन का दैनिक क्रम है। ऐसी दशा में मध्यम-वर्ग (middle-men) के द्वारा जो कुछ दलाली उपभोक्ता और उत्पादनकर्त्ता के बीच प्राप्त की जाती है, वह सामान्य आयवाले व्यक्तियों की गाढ़ी कमाई का पूंजी द्वारा शोषण नहीं है तो और क्या है?

इस मुसीबत से छुटकारा पाने का एकमात्र साधन राबर्ट ओवन (Robert Owen) ने आज से लगभग १०० वर्ष पूर्व इन शब्दों द्वारा प्रस्तावित किया था—"स्वयं व्यापारी बनो, अपनी आवश्यकता की चीजें खुद पैदा करो, उत्तम वस्तुएँ कम से कम मूल्य पर उत्पादित करके प्राप्त करो।"

इस प्रकार यदि उपभोक्ताओं को मध्यग वर्ग से छुटकारा पाना है तो स्वयं व्यापारी बनना होगा और बहुशो-विक्रेता और लघुशो-विक्रेताओं की सहकारी समितियों द्वारा प्रतिस्थापित कर देना होगा। यदि उपभोक्ता स्वयं मिलकर सहकारी समितियाँ अपनी दैनिक आवश्यकताओं के लिये संस्थापित कर लें तो उन सबको, मध्यम वर्ग द्वारा जो लाभ प्राप्त किया जाता है उसका उचित हिस्सा आपस में ही प्राप्त हो सकेगा। इस प्रकार के सहकारी आन्दोलन में दो वर्ग की समितियाँ बहुशो-विक्रय और लघुशो-विक्रय (Wholesale and retailing) हेतू स्थापित करनी पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी ऐसा अवसर भी आता है कि जिन वस्तुओं की माँग पर्याप्त होती है, उनके उत्पादन की व्यवस्था भी उपभोक्ता, उत्पादन समितियाँ स्थापित करके स्वयं करने लगते हैं। उत्पादन समितियों का उल्लेख पुस्तक में अन्यत्र किया गया है।

समाज में कोई भी तो ऐसा व्यक्ति नहीं है कि जो उपभोक्ता के वर्ग में न आता हो, इसलिये सहकारिता का यह पक्ष विश्व-व्यापी है। इसका स्वस्थ प्रभाव स्त्री-पुरुष सभी पर समान रूप से पड़ता है, बल्कि विशेष रूप से स्त्रियों को इसमें अधिक दिलचस्पी लेनी चाहिये क्योंकि ऐसी विषम तेजी के जमाने में उन्हें गृहस्थी के भार को सीमित आय होते हुए संभालना पड़ता है।

उपभोक्ता समिति की परिभाषा :—उपभोक्ता समिति वह समिति है, जो कि उपभोक्ताओं द्वारा मध्यग व्यक्तियों का लाभ समाप्त कर देने के उद्देश्य से, वस्तुओं के वितरण के लिये सङ्गठित की जाती है। इन उपभोक्ता समितियों के द्वारा भिन्न-भिन्न वस्तुएं और कहीं-कहीं एक वर्ग की समान वस्तुएं वितरित की जाती हैं और उसी वस्तु के नाम पर उस समिति का नाम रख लिया जाता है। उदाहरण के लिये, 'वस्त्र सहकारी भण्डार' (Cloth Cooperative Stores), 'पुस्तक सहकारी भण्डार' (Book Stores) और 'भोज्य पदार्थ सहकारी भण्डार' (Cooperative Stores for Provisions) आदि। इन सहकारी समितियों के आधार-भूत सिद्धान्त राकडेल (Rochdale) द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर अवलम्बित रहते हैं, जो कि संक्षिप्त में निम्नलिखित हैं :

सहकारी समितियों के आधारभूत सिद्धान्त :—

१. प्रत्येक व्यक्ति उपभोक्ता होता है, इसलिये इन समितियों की सदस्यता सबके लिये उपलब्ध है।

२. प्रत्येक व्यक्ति सदस्यता ग्रहण करते समय कुछ निश्चित राशि अंश पूंजी के रूप में लाता है।

३. प्रत्येक सहकारी भण्डार की व्यवस्था प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों पर आधारित रहती है; अर्थात् सदस्यों द्वारा चुने हुए व्यक्तियों की एक व्यवस्थापिका (executive) सहकारी भण्डार का कार्य चलाती है।

४. प्रत्येक सदस्य उन वस्तुओं को, जो कि सहकारी भण्डार द्वारा विक्रय की जाती हैं, भण्डार से ही खरीदता है।

५. प्रत्येक सदस्य भण्डार से वस्तु क्रय करते समय

विपणि मूल्य (market price) नकद (cash) में प्रदान करता है।

६. सहकारी भण्डार द्वारा उपार्जित लाभ को दो हिस्सों में विभक्त करके बाँटा जाता है। अंश पूंजी प्रदान करनेवालों को उचित लाभांश और प्रत्येक उपभोक्ता को उसके द्वारा वर्ष में जितने रुपये का माल क्रय किया है, उसके आधार पर शेष लाभ के रूप में दे दिया जाता है।

इस प्रकार के लाभांश द्वारा उपभोक्ताओं को अपने भण्डारों से वस्तुएँ खरीदने के लिये प्रेरणा प्राप्त होती है। कुछ सहकारी भण्डारों ने प्रारम्भ में उधार वस्तुएँ विक्रय करना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु कुछ कालांतर में उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई और उन्होंने भी नकद व्यापार प्रारम्भ कर दिये। इसके अतिरिक्त किसी भी सहकारी भण्डार को वस्तुएं विपणि मूल्य से कम पर विक्रय करके बिक्री बढ़ाने की प्रतिस्पर्द्धा अन्य व्यवसायियों के साथ नहीं करना चाहिये, क्योंकि सहकारी भण्डार का उपार्जित लाभ वास्तव में वर्ष के अन्त में स्वयं सदस्यों को ही प्राप्त होनेवाला है।

इन आधारभूत सिद्धांतों के अतिरिक्त कुछ अन्य सिद्धांत, जिनका उल्लेख आगे किया जा रहा है, सहकारी भण्डार की सफलता में काफी हद तक सहायक सिद्ध होते हैं। वे सामान्य सिद्धांत निम्नलिखित हैं :—

१. कर्मचारियों के बीच उपार्जित लाभांश का कुछ हिस्सा अवश्य वितरित कर देना चाहिये, ताकि वे भविष्य में अधिक ईमानदारी और तत्परता से कार्य करें।

२. सदस्यगण भी यदि अपने उपार्जित लाभांश को

सहकारी भण्डार के पास ही पड़ा रहने दें, तो उससे भण्डार को पर्याप्त कार्यवाहक पूंजी प्राप्त हो जाती है।

३. प्रत्येक सहकारी भण्डार को सीमित दायित्व के आधार पर कार्य करना चाहिये।

४. सहकारी भण्डार की व्यवस्था आदर्श होनी चाहिये और प्रत्येक सदस्य को, उसने चाहे जितने अंश क्यों न खरीदे हों, समान मतदान का अधिकार, एक व्यक्ति एक मत के आधार पर, होना चाहिये।

५. सहकारी भण्डारों को राजनैतिक और धार्मिक दल-बन्दियों से दूर रहना चाहिये।

६. उपार्जित लाभ जब एक सीमा तक पहुँच जाय, जो कि प्रदत्त पूंजी के बराबर हो जाय, तो कुछ लाभ की मात्रा मानवीय कल्याण के सार्वजनिक कार्यों में भी व्यय की जानी चाहिये; जैसे, गर्मियों के दिनों में पानी पिलाने के लिये पिआऊ की व्यवस्था।

सहकारी भण्डार संस्थापित करने की विधि:—

कोई भी १० व्यक्ति मिलकर भण्डार संस्थापित कर सकते हैं। सहकारी समिति के पंजीयक के पास पंजीयन (registration) कराने के पश्चात् भण्डार का कार्य प्रजातांत्रिक सिद्धान्तों के अनुसार चलाने के लिये सब सदस्यों की एक सामान्य सभा और इस सभा द्वारा नियुक्त ३, ५ या ७ व्यक्तियों की व्यवस्थापिका सभ निर्माण कर दी जाती है। प्रत्येक व्यक्ति को सहकारी भण्डार की अंश पूंजी के कुछ न कुछ अंश अवश्य लेने पड़ते हैं। अन्य व्यक्तियों को भी भविष्य में अंश प्राप्त करके सदस्यता ग्रहण करने का समान अवसर प्रदान करना पड़ता है। भण्डार की सम्पूर्ण आर्थिक आवश्यकताओं की, अंश पूंजी से प्राप्त राशि, सदस्यों से प्राप्त निक्षेप,

सहकारी संस्थाओं से प्राप्त ऋण आदि से, पूर्त्ति की जाती है। सामान्यतया अंश २, ५ या १० रुपये के रखे जाते हैं। कम मूल्य के अंश रखने के दो कारण हैं। सर्वप्रथम, सहकारी भण्डार केवल नगद व्यवहार ही करता है, इसलिये पूंजी बार-बार नवकरण होती रहती है। इसके अतिरिक्त सामान्य व्यक्तियों को अंशों का मूल्य कम रहने से सदस्यता ग्रहण करने में सुविधा रहती है। एक व्यक्ति द्वारा अधिक से अधिक कितने अंश लिये जा सकते हैं, इस दिशा में भी सीमा निर्धारित करनी पड़ती है। ऐसी सीमा निर्धारित करने की, प्रजातांत्रिक आधार पर अवलम्बित, इन संस्थाओं में बहुत जरूरत है, क्योंकि इसके अभाव में कुछ धनाढ्य व्यक्ति अपनी निजी स्वार्थ-सिद्धि के लिये उन भण्डारों का दुरुपयोग करते हैं। राकडेल ने इस प्रकार की सीमा ५० पौंड निश्चित की थी। वर्तमान अंग्रेजी कानून के अन्तर्गत यह सीमा २०० पौंड निश्चित की गयी है। भारतवर्ष में कोई व्यक्ति सहकारी भण्डार की सम्पूर्ण पूंजी के $\frac{1}{5}$ से अधिक अंश पूंजी धारण नहीं कर सकता अथवा एक हजार रुपये से अधिक उसका अंशदान नहीं होना चाहिये। बम्बई सरकार ने यह सीमा ३,००० रु० तक निश्चित की है। इन सहकारी भण्डारों की अंश पूंजी सदस्य द्वारा सदस्यता त्याग देने पर वापस कर दी जाती है। अंश पूंजी की वापसी अचानक बहुत मात्रा में न होने लगे, इसके ऊपर रोक लगाने के उद्देश्य से बहुधा पूंजी-वापसी के लिये कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। सदस्य द्वारा नगर छोड़ देने पर या मृत्यु होने पर पूंजी वापस कर दी जाती है, अन्यथा एक बार ग्रहण की हुई सदस्यता बराबर चलती रहती है।

प्रत्येक भण्डार को अपने सदस्यों की दैनिक उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं का उचित अनुमान लगाना पड़ता है। इसके

लिये सबसे उत्तम तरीका यह है कि प्रत्येक सदस्य को अपने परिवार में काम आनेवाली उन विभिन्न वस्तुओं की एक सूची (indent) मास के प्रारम्भ में ही दे देनी चाहिये, जिससे कि सहकारी भण्डार केवल उन्हीं चीजों को मंगाये, जिनकी सदस्यों द्वारा माँग की गयी है और उनकी मात्रा भी सिर्फ उतनी ही मंगाई जाय, जितनी कि अनुमानतः बिक्री होने की सम्भावना है। सहकारी भण्डारों को वस्तुओं को विपणि मूल्य पर बिक्री करनी चाहिये। अनुभव से यही सिद्धांत सर्वोत्तम पाया गया। वर्ष के अन्त में जो कुछ लाभ होगा वह वास्तव में उन्हीं क्रेता सदस्यों को प्राप्त हो जायेगा, जिन्होंने पूरे वर्ष भर सहकारी भण्डार से माल खरीदा है। कुछ सहकारी भण्डार प्रारम्भ से ही अपने सदस्यों को वस्तुएँ विपणि मूल्य से दो-तीन प्रतिशत कम दामों पर विक्रय करने लगते हैं। इसमें उनका उद्देश्य यह रहता है कि उनके सदस्य अन्यत्र न जायं, किन्तु इससे अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा अन्य व्यापारियों के साथ होने लगती है, जिसका परिणाम बहुत खतरनाक होता है। सदस्यों को सहकारी भण्डार के प्रति वफादार बनाये रखने के लिये सहकारी भण्डार के अधिकारियों को उत्तम गुणवाली वस्तुएँ उचित मूल्य पर विक्रय करना चाहिए।

लाभोपार्जन सहकारी भण्डारों का प्रमुख उद्देश्य नहीं होता, इसलिये जन-सेवा से पूर्व लाभोपार्जन के उद्देश्य को रखना भूल होगी। इसके अतिरिक्त सहकारी भण्डार के पदाधिकारियों का चाहे कोई भी बच्चा, वयोवृद्ध अथवा गृहस्थ का नौकर सामान खरीदने आये तो सदसे सदैव समान मूल्य ही लेना चाहिए। बच्चों के साथ सद्व्यवहार करना चाहिये और उन्हें लेमन की गोलियां, बिस्कुट आदि देकर प्रोत्साहन देना चाहिए कि भविष्य में भी, वे सहकारी भंडार से ही माल खरीदने आयें। ये बच्चे ही आगे चलकर भावी

अंशधारी बनेंगे। कुछ पश्चिमी देशों में तो इस प्रकार की भी व्यवस्था की गयी है कि प्रत्येक सदस्य भण्डार के स्थापित होने के कुछ प्रारम्भिक वर्षों में एक निर्धारित न्यूनतम मात्रा तक प्रतिवर्ष सहकारी भण्डार से वस्तुएं क्रय किया करेगा, अन्यथा उसकी सदस्यता समाप्त कर दी जावेगी। इस प्रकार का बन्धन केवल उन्हीं विकसित देशों में सफल हो सकता है जहां सामान्य व्यक्तियों की व्यक्तिगत आय काफी अधिक है और गृहस्थी में सभी जीविकोपार्जन करनेवाले कार्यशील व्यक्ति हैं, जिन्हें गृहस्थी के लिये आवश्यक चीजों के लिये बाजार जाने का काफी समय नहीं है। उन लोगों का दैनिक पारिवारिक व्यय भी हमारे देश की अपेक्षा बहुत अधिक होता है और उन्हें समय की कीमत हमारे देशवासियों की अपेक्षा बहुत अधिक होती है।

वस्तु विक्रय:— बहुधा सहकारी भण्डार वस्तुएं नगद बेचते हैं क्योंकि यदि वे उधार बेची जाती हैं तो बहुत सी बकाया राशि पड़ी रह जाती है, जो कि वसूल नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त उधार वस्तुएं विक्रय करने पर अधिक पूंजी विनियोग होती है और जिन सदस्यों के पास काफी उधारी इकट्ठी हो जाती है उनसे रुपये का बार-बार तकाजा करने से सम्बन्ध खराब हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त सदस्यों में रुपया बचाने की आदत डालना भी बहुधा सहकारिता का उद्देश्य रहता है। सहकारी भण्डार को छोटे-छोटे व्यापारियों से प्रतिस्पर्द्धा नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे तो अपने ग्राहकों को उधार माल देकर भी फंसाये रखते हैं। इन भण्डारों को तो केवल वस्तुओं की उत्तमता, मूल्यों की उचितता और सच्चाई— इन तीन सिद्धांतों पर अटल रहना चाहिये। जिन सहकारी भण्डारों में ग्राहकों से निक्षेप

राशियां प्राप्त करने की व्यवस्था रहती है वहां ऐसे ग्राहकों को माल उधार दिया जा सकता है, किन्तु प्रत्येक मास में हिसाब चुकता होता चला जाना चाहिए। महीने के आखिर में लगभग एक सप्ताह के लिये सामान्य सदस्यों को भी माल उधार दिया जा सकता है क्योंकि महीने के आखिरी दिनों में पैसों की बाबत हालत नाजुक हो जाती है।

भण्डार को विक्रय के हेतु जो वस्तुएं उत्पादकों या बहुशो-विक्रेता से प्राप्त करनी पड़ती हैं वे भी अगर नगद ही ली जायं तो अच्छा है, क्योंकि नगदी व्यवहारों में बहुधा कुछ न कुछ अपहार (discount) प्राप्त हो जाता है। इसके लिये कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि विपणन भी परिस्थितियों के अनुसार जैसा उपयुक्त समझा जाय, वैसा ही किया जा सकता है। कभी-कभी उत्पादक, अपनी वस्तुएं बिक्री-आधार पर भण्डार में रखवा देते हैं। ऐसी सुविधाओं का पूरा लाभ उठाना चाहिए।

वस्तु-मूल्य :—भण्डार द्वारा विक्रीत वस्तुओं के मूल्य विपणि मूल्य से कम या विपणि मूल्य के समान अथवा विपणि मूल्य से अधिक, तीन प्रकार से निश्चित किये जा सकते हैं। विपणि मूल्य से कम पर बेचना प्रारम्भ में काफी प्रेरणात्मक सिद्ध होगा, लेकिन इससे वर्ष के अन्त में लाभ की मात्रा कम रहेगी और अंश पूंजी पर लाभांश कम दिया जा सकेगा, जो कि सदस्यों के असंतोष का कारण बन सकता है। इसके अतिरिक्त गैर-सदस्यों को भी इन सुविधाओं का लाभ उठाने की कुचेष्टाएं करनी पड़ेंगी— अर्थात् सदस्यों के मार्फत गैर-सदस्य भी माल सस्ता देखकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति सहकारी भण्डार से करने लगेंगे। इस प्रकार सदस्यों को भण्डार द्वारा उतनी सेवाएं प्राप्त न हो सकेंगी। वस्तु के मूल्य विपणि मूल्य से अधिक

रखना बिलकुल गलत होगा, क्योंकि ऐसी दशा में सदस्य को भी माल बाहर से खरीदने की प्रेरणा होगी। इसलिये विपणि मूल्य पर वस्तुएं विक्रय करना अति उत्तम होगा, इससे स्थानीय व्यापारियों के साथ प्रतिस्पर्धा भी न होगी और सदस्यों को वर्ष के अन्त में उचित लाभांश मिलेगा तथा गैर-सदस्य भी वस्तुएं उचित मूल्य पर उचित मात्रा में क्रय करेंगे। जब वस्तुएं उचित मूल्य पर रखेंगे तो वे मूल्य कदापि स्थायी नहीं रह सकते, क्योंकि विपणि मूल्य तो सदैव परिवर्तित होते रहते हैं। कुछ लेखकों का यह विचार है कि मूल्य स्थायी रहने चाहिये। स्थायी मूल्यों का थोड़ा मानसिक प्रभाव तो अवश्य पड़ता है, किन्तु मूल्य स्थायी रखना असम्भव है। कुछ उत्पादक तो अपनी वस्तुओं के फुटकर बिक्री के मूल्य स्वयं निश्चित कर देते हैं; जैसे बाटा शू कम्पनी (Bata Shoe Company) तथा टेक्सटाइल मिल्स (textile mills)। इन फुटकर मूल्यों पर ही इन वस्तुओं को भण्डार द्वारा विक्रय किया जाना चाहिये और इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के मूल्य के लिये थोक भाव पर बिक्री व्यय और उचित लाभ सम्मिलित करके फुटकर कीमतें निश्चित की जाती हैं। सहकारिता संयोजना समिति ने भी इन विचारों का समर्थन किया है।

गैर-सदस्य :—सहकारी भण्डार को अपना कार्य-क्षेत्र गैर-सदस्यों में बढ़ाना चाहिए, क्योंकि ग्राहकसंख्या, सीमित रखने पर व्यय अधिक पड़ते हैं, जिससे वस्तुमूल्य बढ़ जाता है। गैर-सदस्यों को वस्तुएं विपणि मूल्य पर प्रदान की जांय। कालान्तर में वे ग्राहक भी सहकारी भण्डार के सदस्य बनने के लिए लालायित हो सकते हैं। उक्त सहकारी भण्डार की सेवाओं, व्यावहारिक नीतियों और वर्ष में क्रयआधार पर वितरित लाभांश द्वारा वे प्रभावित होंगे। कुछ लेखक गैरसदस्यों को

विक्रय करने के पक्ष में नहीं हैं। उनका एकमात्र कारण (argument) यह है कि सहकारी भण्डार भी यदि ग्राहक-संख्या बढ़ाने के चक्कर में पड़े, तो वे भी सस्ता माल खरीद-कर ऊंचे दामों पर बेचने की कोशिश करेंगे जो कि अन्य व्यापारियों का आम तौर से उद्देश्य रहता है, किन्तु यह शंका करना कि गैर-सदस्यों को माल खरीदने देने से सहकारी भण्डार अपने आधारभूत सिद्धांतों को त्याग देगा, बिलकुल गलत है। गैर-सदस्य का सहकारी भण्डार से क्रय करना बहुत सहायक सिद्ध होता है, क्योंकि उस समय तक उसके स्वभाव आदि से सहकारी भण्डार के कर्मचारी परिचित हो जाते हैं। जो व्यक्ति उच्च नैतिक स्तर के होते हैं, उन्हें सदस्यता प्रदान करने में संस्थाओं का सदैव हित ही होगा। यदि सहकारी भण्डार की वस्तुएं अन्य व्यापारियों की अपेक्षा अधिक उत्तम हैं और उनके दाम उचित हैं, तो गैर-सहकारी सदस्यों को विक्रय किये हुए माल पर उपार्जित लाभ सहकारी भण्डार के लिये स्थायी संचिति निर्माण करने में काफी सहायता देगा और सदस्यों को उनके अंशों पर जो बिक्री बोनस (bonus) प्रदान करेगा, वह पर्याप्त होगा। इंग्लैंड, अमेरिका और रूस आदि देशों में भी गैर-सदस्यों को माल विक्रय करने की प्रथा प्रचलित है। इंग्लैंड में तो गैर-सदस्यों को प्राप्त लाभांश की आधी दर से लाभांश भी प्रदान किया जाता है। इस लाभांश के द्वारा यदि गैर-सदस्य सदस्यता-अंश प्राप्त करना चाहें, तो उनके लेखे में संग्रहित लाभांश की राशि से उन्हें अंश प्राप्त करने की पूर्ण सुविधा दी जाती है।

प्रत्येक सहकारी भण्डार को प्रत्येक बिक्री के लिये रसीद देनी चाहिए, जिसमें क्रेता का नाम हो और वह सदस्य अथवा

गैर-सदस्य है, यह भी लिखा हो। सदस्यों को क्रय-संख्या प्रारम्भ से ही दे देनी चाहिए, जिसमें उनके द्वारा क्रय की हुई वस्तुओं का उल्लेख रहे। इससे वर्ष के अन्त में क्रय बोनस (bonus) वितरण करने में सुविधा होगी।

सेवा और लाभ :— सहकारी भण्डार एक संस्था है, जिसका अस्तित्व व्यक्तिगत व्यवसायी की अपेक्षा अनेकों वर्षों तक रह सकता है, इसलिये इन संस्थाओं को व्यक्तिगत व्यापारियों की अपेक्षा अपनी ख्याति निर्माण करने में अधिक ध्यान देना चाहिए। सदैव वस्तुएं उत्तम प्रकार की प्रदान की जायं। बच्चे, बूढ़े, किसी के साथ कोई भेदभाव न किया जाय। सभी से समान वस्तु के लिये, समान मूल्य लिया जाय और कोई भी वस्तु वजन में कम न तौली जाय। इस प्रकार सेवाएं प्रदान करने के लिए सहकारी भण्डार को अधिक लालायित रहना चाहिए और लाभोपार्जन सहकारी भण्डार का प्रमुख उद्देश्य न होकर सहायक उद्देश्य होना चाहिए।

सहकारी भण्डार द्वारा जो लाभ वितरित किया जाता है उसमें बोनस (bonus) लाभांश वापसी (refund) और पुनःशोधन (repayment) बहुधा सहकारी भण्डार की सम्पूर्ण बिक्री के लिये एक प्रतिशत के आधार पर घोषित किया जाता है। सहकारी भण्डार के उपार्जित लाभ का यह लाभांश कुछ आधा या तिहाई भिन्न होता है, क्योंकि इस लाभांश के अतिरिक्त क्रय बोनस भी सदस्यों को प्रदान किया जाता है। क्रय बोनस (bonus) वास्तव में सदस्यों को सहकारी भण्डार के नियमित ग्राहक बनाए रखने में सहायता देता है। लाभांश और बोनस नगद प्रदान न करके बहुधा परचियों (Chits) के रूप में दिया जाता है, जिससे सहकारी भण्डार से कोई माल खरीदा जा सके। इस तरीके में

यदि थोड़ा-सा परिवर्तन कर लिया जाय, तो यह अधिक लाभप्रद हो सकता है। सदस्यों का लाभांश और बोनस उनके व्यक्तिगत लेखे में जमा कर दिये जायं, जिससे भविष्य में क्रय के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में न ला सकें। केवल उन्हीं सदस्यों को लाभांश व बोनस की परचियां दी जायं जो उसे आहरण करना चाहते हैं।

सहकारी भण्डार का प्रबन्ध :—सहकारी भण्डार की प्रबंध-व्यवस्था संचालकगण द्वारा की जाती है, जिसमें ५ या ७ सदस्य होते हैं और दैनिक कार्य-व्यवस्था एक कार्यवाहक (सचिव) को सौंप दी जाती है जो अवैतनिक होता है। इसके अतिरिक्त वैतनिक कर्मचारी भी रहते हैं जिनमें मैनेजर (manager), लेखापाल तथा विक्रेता आदि प्रमुख रहते हैं। वस्तुएं क्रय करने का अधिकार बहुधा दो-तीन संचालकों की एक सहायक समिति को सौंप दिया जाता है। कार्यवाहक को उसके कार्य के लिये पारिश्रमिकस्वरूप 'आनरेरियम' दे दिया जाता है।

निरीक्षण व अंकेक्षण :— सहकारी भण्डारों का निरीक्षण विभागीय निरीक्षकों द्वारा किया जाता है, जिनकी नियुक्ति, प्रांतीय या केन्द्रीय अधिकोष करते हैं। सहकारी भण्डारों को निरीक्षण का व्यय अपनी वार्षिक बिक्री पर चार आना प्रतिशत देना पड़ता है। अधिकतम राशि इस लेखे पर १५० रु० ली जाती है। अंकेक्षण व्यय से, प्रथम दो वर्षों में छूट दे दी जाती है और तीसरे वर्ष से यदि १० हजार रुपये से अधिक बिक्री हुई तो अंकेक्षण व्यय ले लिया जाता है।

प्रत्येक सहकारी भण्डार को, भारतीय सहकारी अधिनियम के अन्तर्गत, चौथाई सामान्य संचिति की ओर स्थानान्तरित करना पड़ता है, तदुपरान्त ६½ प्रतिशत अधिक से अधिक लाभांश

अंशधारियों को उनकी पूंजी पर दिया जाता है। शेष लाभ विभिन्न क्रेताओं को उनके उस वर्ष के वार्षिक क्रय के आधार पर वितरण कर दिया जाता है, जिसे क्रय बोनस या लाभ वापसी भी कहते हैं। भण्डार में कर्मचारियों को भी कुछ बोनस, वेतन से अतिरिक्त दे दिया जाता है।

केन्द्रीय सहकारी भण्डार का विधान

बहुत सी छोटी-छोटी प्रारम्भिक सहकारी उपभोग समितियों को कुछ बहुशो-सहकारी भण्डारों से संबंधित कर दिया जाता है। ये बहुशो-सहकारी भण्डार प्रत्येक मौसम में काम आनेवाली दैनिक उपभोग की सामग्रियां इकट्ठी मात्रा में उत्पादकों से खरीद लेते हैं और प्रारम्भिक सहकारी उपभोग समितियों को उनके सुविधानुसार साप्ताहिक, या पाक्षिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहते हैं।

इन बहुशो-सहकारी भण्डारों की अंश पूंजी पर्याप्त होती है; इसके अतिरिक्त यदि और रुपये की जरूरत होती है, तो केन्द्रीय अधिकोष से ऋण ले लिया जाता है। ऋण लेने की सीमा अंश पूंजी के १० गुने तक सीमित कर दी गयी है। इन भण्डारों के अंश प्रारम्भिक उपभोग समितियों के द्वारा भी क्रय किये जाते हैं। दैनिक व्यवस्था वैतनिक कार्यवाहक या मैनेजर के द्वारा की जाती है। प्रारम्भिक उपभोग समितियों को माल उधार देने का अधिकार भी बहुधा कार्यवाहक या मैनेजर को प्रदान कर दिया जाता है। प्रारम्भिक उपभोग समितियों को उनकी अंश पूंजी के दुगने या तिगुने से अधिक राशि का माल उधार नहीं देना चाहिए।

नगरों में उपभोक्ता भण्डार

नगरों में उपभोक्ता भण्डार का प्रादुर्भाव दो प्रकार से हुआ है:—

१. पहले अनेकों प्रारम्भिक उपभोग समितियां नगर के अनेक मुहल्लों में स्थापित की जाती हैं और तदुपरांत उन्हें संघनित (federating) करनेवाली संस्था. केन्द्रीय उपभोक्ता भण्डार के रूप में स्थापित की जाती है। मद्रास में उपभोक्ता भण्डारों का विकास इसी आधार पर हुआ है। विकास की यह दिशा अधिक उपयुक्त मानी गयी है।

२. द्वितीय पद्धति के अन्तर्गत नगर के किसी एक प्रधान स्थान में एक बड़ी संस्था विक्रेता भण्डार के रूप में स्थापित कर दी जाती है या स्थापित करा दी जाती है और उसीकी अल्प शाखाएं सुविधानुसार नगर के अन्य मुहल्लों में खोल दी जाती हैं। यह द्वितीय पद्धति प्रथम पद्धति की अपेक्षा दोषयुक्त मानी गयी है।

प्रथम पद्धति अधिक उपयुक्त मानने के लिये तीन कारण हैं:—

१. प्रारम्भिक सहकारी समितियां विभिन्न मुहल्लों में बड़े भण्डार से अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव नागरिकों पर डाल सकती हैं।

२. प्रथम पद्धति में सहकारिता के सिद्धांतों का पूर्णरूपेण पालन किया जाता है।

३. पारस्परिक सहायता, नैतिकता और अन्य सहकारी आदर्श तभी पाये जा सकते हैं, जबकि प्रारंभिक समितियां नागरिकों

द्वारा स्वयं संस्थापित की गई हों। प्रथम पद्धति में इस सिद्धांत का समावेश किया गया है। द्वितीय पद्धति में दो उत्तम गुण है कि उसकी अर्थ-सामर्थ्य अधिक होती है और संगठन संपर्क अधिक सुदृढ़ रहता है।

ग्रामीण सहकारी भण्डार

भारतीय सहकारिता संयोजना समिति (१९४०) ने अपने प्रतिवेदन में ग्राम्य सहकारी भण्डार खोलने की सिफारिश की थी। प्रत्येक गांव के लिये इस प्रकार की एक-एक उपभोग समिति संस्थापित की जा सकती है। ग्रामीणों की आवश्यकतायें दिनों-दिन बढ़ रही हैं। देश में गणतंत्र स्थापित हो जाने के उपरांत से जन-सम्पर्क प्रजातांत्रिक अर्थ-प्रणाली के अन्तर्गत अधिकाधिक बढ़ता चला जा रहा है। ऐसी दशा में ग्रामों और नगरों के बीच अधिकाधिक सम्पर्क स्थापित करना बहुत जरूरी हो चला है, जो कि उपभोग समितियों के द्वारा सुगमतापूर्वक किया जा सकता है।

यदि ग्राम में बहु-प्रयोजन समिति कार्य करती हो तो एक अतिरिक्त उपभोक्ता समिति स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि उसी बहु-प्रयोजन समिति का एक विभाग उपभोक्ताओं की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति करने का कार्य-भार संभाल सकता है। बहु-प्रयोजन समिति के इस विभाग के अन्तर्गत, यदि उस ग्राम में प्रत्यय व विपणन विभाग नहीं हैं तो, एक स्वतन्त्र उपभोक्ता समिति संस्थापित की जा सकती है। सदस्यों को उनकी आवश्यकतासम्बन्धी सामग्रियां उचित मूल्य पर उपलब्ध करना इसका उद्देश्य रहेगा। माल नगद दाम पर बेचा जायेगा। गैर-सदस्यों को भी माल दिया जा सकता है। इनके भी वे ही सिद्धांत

हैं, जिनका इससे पूर्व उपभोक्ता समितियों के लिये सामान्य रूप से वर्णन किया गया है।

द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव

सहकारी उपभोक्ता भण्डारों की, द्वितीय महायुद्ध के कारण काफी प्रगति हुई। इन युद्धकालीन परिस्थितियों में दैनिक उपभोग की वस्तुओं की पूर्ति अपर्याप्त थी और बड़े-बड़े व्यापारी लोग लाभोपार्जन की लिप्सा में लिप्त थे। वस्तुएं संग्रहण करने के विरुद्ध कानून होते हुए भी, वे विपणि से वस्तुएं छिपाकर काला बाजारी करते थे। सामान्य आयवाले व्यक्तियों को ऐसी कठिनाइयां पैदा हो गयी थीं कि वे अपनी दैनिक आवश्यकता की पूर्ति, नियंत्रित मूल्य पर वस्तुएं प्राप्त करके, नहीं कर पा रहे थे। इसलिए प्रांतीय सरकारों ने उन नियंत्रित वस्तुओं के वितरणार्थ, जो कि नियंत्रण अधिनियम के अन्तर्गत आती थीं, उचित वितरण की व्यवस्था सहकारी उपभोक्ता भण्डारों के द्वारा प्रारम्भ किये जाने की योजना कार्यान्वित की, जिसमें जन-समाज ने सहर्ष योग दिया और इस प्रकार सन् १९३९ से लेकर सन् १९४५ तक युद्धकाल में और सन् १९४५ से लेकर १९५२ तक युद्धोपरांत काल में, जब तक परिस्थितियां विषम ही चलती रहीं और नियंत्रण अधिनियम लागू रहे, हजारों सहकारी भंडार प्रत्येक प्रांत के विभिन्न नगरों में काफी सफलता के साथ कार्य करते रहे। निम्न प्रदर्शित तालिका से उपर्युक्त सत्य स्पष्टरूपेण प्रगट

हो जाता है:—

अ. उपभोक्ता भण्डारों की युद्ध-पूर्व स्थिति (१९३८-३९)

प्रान्त	सहकारी भंडारों की संख्या	सदस्यता	अंश पूंजी	कार्यवाहक पूंजी (लाखों में)	बिक्री (लाखों में)
मद्रास	८५	७,०००	...	...	२३.७७
बम्बई	२५	७,१०८	....	२.०९	५.९९
सिन्ध	१०	६७९	.०५	.१९	.२१
बंगाल	४३	५,१९७	१.०३	१.८	२.८५
बिहार	६	६५८	.१४	.८४	१.८५
उड़ीसा	९	५४०	.००२	.११	.०४
यू. पी. (उत्तर प्रदेश)		...	...	...	...
पंजाब	१३	२,३४५	.२२	.७२	१.२६
मध्यप्रदेश और बरार	२६	१,७१३	...	.८७	१.१९
हैदराबाद	६	५६१	.२९	.५८	.१५
त्रावनकोर	४४	...	...	...	...
कोचीन	१७	१,८६४	...	.४५	....

ब. *उपभोक्ता भण्डारों की युद्धकालीन स्थिति (सन् १९४५-४६)*

प्रान्त	समितियों की संख्या	सदस्यता	अंश पूंजी (लाखों में)	कार्यवाहक पूंजी	बिक्री (लाखों में)
मद्रास	१,३४६	४,४७०००	६६.५४	१५६.८२	१,३५७.५५
बम्बई	४६५	१,३२,५९०	२९.४३	५५.११	५४२.०७
सिन्ध	२३	१,५००	१.६१	१.८५	६.९०
बंगाल	३७२	७४,१२०	७.८०	१२.८८	७५.३२
बिहार	१२	९,१०८	२.१०	४.७३	३४.१९
उड़ीसा	१२२	१५,३६०	१.८०	४.४३	४२.१०
उत्तर प्रदेश	१६३	१९,०००	३.१८	५.०९	२४.०७
पंजाब	५०	७,०००	१.४६	६.४३	१९.३५
मध्यप्रदेश बरार	२७७	२६,३६९	३.३०	५.०१	४१.५४
हैदराबाद	११	६४९	.०७	.१२	.०५
त्रावनकोर	१४८	३७,९२८	५.५५	१२.३०	७९.८४
कोचीन	१९	२,४५५	.४३	१.३०	७.३१

उपर्युक्त आंकड़ों से यह प्रगट होता है कि सहकारिता के इस क्षेत्र विशेष में युद्धकाल में काफी प्रगति हुई है। युद्धोत्तरकाल में भी जब तक खाद्यान्नों का अभाव रहा और उन पर नियंत्रण चलता रहा, ये भण्डार संतोषजनक कार्य करते रहे। सन १९५३ में, जब कि देश की खाद्यान्न स्थिति सुधर गई, कितने ही सहकारी उपभोक्ता भण्डार बन्द हो गए। खाद्यान्न-वितरण की पूर्व प्रचलित प्रणाली पुनः कार्य करने लगी, अनाज की मण्डियों में बोहरे, कोठारी पुनः खत्तियां भरने लगे हैं। आढ़तिये, दलाल फिर से मण्डियों में पूर्ववत् काम कर रहे हैं। जो सहकारी समितियां खाद्यान्न-वितरण के लिये संगठित की गई थीं, वे निष्क्रिय पड़ी हैं। कुछ स्थानों में तो राशन-कार्ड-धारियों ने अपनी अंश-पूंजी की वापसी के लिये मांग करना शुरू कर दिया है।

विभिन्न प्रान्तों में उपभोक्ता भण्डारों की प्रगति

कुछ प्रान्तों में उपभोक्ता भण्डारों ने संतोषजनक प्रगति की है। उनकी गतिविधियों का अध्ययन अन्य प्रान्तों के लिये मार्गदर्शक बन सकता है। इस उद्देश्य से कुछ प्रान्तों के उपभोक्ता भण्डारों के विकास, संगठन और गतिविधियों के संबंध में विवेचन किया जा रहा है।

मद्रास :— मद्रास प्रान्त, जहां कि खाद्यान्नों का वहां की जन-संख्या की तुलना में अभाव है, युद्धकाल में भारत के ऐसे प्रांतों से, जहां अतिरिक्त अन्न उपलब्ध था, मंगाने के लिये सदैव प्रयत्न करता रहा। इस अन्न को जनता तक उचित ढंग से वितरित करने के लिये सहकारी भण्डारों की बड़ी सख्त जरूरत थी। सहकारी भण्डारों ने इस दिशा में सफलतापूर्वक योगदान दिया। प्रांतीय सरकार ने भी सहकारी भण्डारों को अपने पास

से तथा अधिकोषों से पर्याप्त मात्रा में सहायता दिलाई। बहुत से औद्योगिक उपक्रमों ने भी अपने कर्मचारियों को दैनिक उपभोग की वस्तुएं वितरण करने के लिये, सहकारी भण्डार स्थापित किये। आशा थी कि इस प्रकार के सहकारी भण्डार वस्तु-अभाव मिट जाने पर भी श्रमिक वर्ग को उत्तम किस्म की वस्तुएं उचित मूल्य पर प्रदान करने में सहायता देते रहेंगे।

मद्रास में उपभोक्ता भण्डारों के प्रसार से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

१. इस आन्दोलन ने ग्रामों में भी अपना स्थान बना लिया है।

२. इस आन्दोलन को सुसंगठित किये रखने में केन्द्रीय (बहुशो-विक्रेता) भण्डारों ने बहुत अधिक मदद दी है।

पहले लोगों का यह ख्याल था कि ग्रामों में सहकारी भण्डार के लिये कोई अवसर नहीं है, लेकिन मद्रास प्रान्त ने यह सिद्ध कर दिया कि उपभोक्ता भण्डारों के लिए ग्रामों में भी उतना ही महत्वशील स्थान मिल सकता है जितना कि नगरों में। मद्रास प्रान्त के पंजीयक ने, सन् १९४० में ग्रामीण क्षेत्र में जो उपभोक्ता भण्डारों ने प्रगति दिखलायी उसका उल्लेख करते हुए उसे आश्चर्यजनक बतलाया था। सम्पूर्ण भण्डारों में से लगभग ३ भण्डार आज ग्रामों में स्थापित हैं और उनकी बिक्री लगभग ४ करोड़ वार्षिक है।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक जिले के लिए एक-एक केन्द्रीय (बहुशो विक्रेता) भण्डार स्थापित किया गया है। इस प्रकार

मद्रास राज्य में (आन्ध्र सहित) २१ केन्द्रीय भण्डार हैं। इनके संस्थापित करने का प्रमुख उद्देश्य यही था कि प्रारम्भिक सहकारी भण्डारों को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति, सामूहिक भण्डारों को उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति सामूहिक रूप से सीधे उत्पादकों अथवा प्रमुख बिक्री केन्द्रों से वस्तुएं प्राप्त करके कर दी जाया करे। युद्धकाल में कृषकों से जो अन्न संग्रहण-योजनाओं के अन्तर्गत प्राप्त किया जाता था, उसके लिये भण्डार भी रखने पड़े। इन संस्थाओं का इस अवधि का कार्य-काल काफी सन्तोषजनक सिद्ध हुआ है और यह आशा की जाती है कि भविष्य में भी सामान्य परिवर्तन करके इन संस्थाओं को प्रान्त की आर्थिक व्यवस्था में उपयुक्त स्थान प्रदान किया जा सकेगा। सन् १९४५-४६ में इस प्रकार के २१ भण्डार थे, जिनकी सदस्य-संख्या ६,४२७ थी और उनकी प्रदत्त अंश पूंजी २६.१८ लाख रुपये थी। इनकी संचिति ८ लाख रुपये थी और वार्षिक बिक्री १२.६७ करोड़ थी।

बम्बई:—मद्रास के उपरांत उपभोक्ता भण्डारों के क्षेत्र में द्वितीय स्थान बम्बई प्रान्त का आता है। यह प्रान्त भी खाद्यान्न के क्षेत्र में अभाव या कमीवाले प्रदेशों के वर्ग में आता है। इसलिये यहाँ की खाद्यान्न तथा अन्य भोज्य पदार्थों की वितरण की समस्या मद्रास के समान रही है। इन समस्याओं का समाधान प्रान्तीय सरकार की देखरेख में चलाये जानेवाले गल्ला भण्डारों तथा उचित मूल्यवाली दूकानों अथवा सार्वजनिक संस्थाओं के द्वारा संचालित सहकारी समितियों द्वारा किया गया है। कुछ खास बड़े-बड़े नगरों में सहकारी समितियां पर्याप्त संख्या में स्थापित की गयी हैं, जहां पर इन उपभोक्ता समितियों के युद्धोपरांत काल में भी सफलतापूर्वक कार्य करने की सम्भावना है। इस प्रांत में प्रसार नीति बहुत ही कड़ाई के साथ

काम में लायी गई है और केवल आर्थिक दृष्टिकोण से मजबूत संस्थाओं को ही इस दिशा में कार्य करने दिया गया है। सितम्बर सन् १९४४ तक ग्रामीण क्षेत्रों में आवश्यक वस्तुएँ वितरित करने के लिये लगभग ३,५५८ ग्राम्य खाद्यान्न वितरण केन्द्र खोले गये थे, जिनमें से १,००४ सहकारी समितियां खाद्यान्न केन्द्र के रूप में कार्य कर रही थीं।

सन् १९३८-३९ में २५ केन्द्रीय उपभोक्ता भण्डार कार्य कर रहे थे। सन् १९४५-४६ में इनकी संख्या बढ़कर ४६५ हो चुकी थी और प्रगति इसके बाद भी होती रही और सन १९४९-५० में ११३ थी। इन उपभोक्ता भण्डारों की सदस्यता भी दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। सन् १९४५-४६ में १,३२,५९० सदस्य थे। सन् १९४७-४८ में १,८२,८७६ सदस्य थे। सन् १९४९-५० में सदस्य-संख्या बढ़कर ६,२२,५९७ हो गई। उपभोग की समितियों के क्षेत्र में अन्य वर्ग की समितियों से भी समय-समय पर काम लिया गया है, इसलिये वास्तविक प्रगति उससे भी अधिक हुई जो कि उपर्युक्त अंकों से प्रगट होती है। दूसरी सहकारी संस्थाएं भी ग्रामों और नगरों में उचित मूल्योंवाली दूकानें चला रही हैं, जिनसे सदस्यों और गैर-सदस्यों सभीको समान रूप से लाभ पहुँच रहा है।

गत कुछ वर्षों में अन्य उपभोक्ता भण्डार स्थापित किये जाने के लिये नवीन आवेदन-पत्र बम्बई के पंजीयक को प्राप्त हुए थे। किन्तु इस वक्त तक बम्बई सरकार के सहकारी विभाग के पदाधिकारी निर्णय कर चुके थे कि वर्त्तमान उपभोक्ता समितियों को ही अपनी वर्त्तमान स्थिति अधिक शक्तिशाली बनाने दें, जिससे कि व्यक्तिगत व्यवसायियों पर से नियन्त्रण हटाये जाने के उपरांत ये भण्डार अधिक सफलतापूर्वक कार्य कर सकें।

इन प्रारम्भिक उपभोक्ता समितियों के अतिरिक्त ७ बहुशो-विक्रेता समितियां हैं। इन समितियों ने मिलकर एक प्रादेशिक संघ स्थापित कर लिया है। नियन्त्रण हटाने के बाद अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाये रखने के उद्देश्य से यह कदम उठाया गया है।

उत्तर प्रदेश :—संयुक्त प्रांत में उपभोक्ता समितियों की संख्या सन् १९४८-४९ में ४८४ और सदस्य-संख्या २.२ लाख थी और सन् १९४९-५० में संख्या ५०५ हो गयी और सदस्य-संख्या २.८ लाख थी। क्रमशः बिक्री भी १६.१८ करोड़ से बढ़कर १६.५७ करोड़ रुपया हो गयी। प्रत्येक जिले में एक-एक केन्द्रीय बहुशो-विक्रेता भण्डार कार्य कर रहा था। प्रारम्भिक समितियों और केन्द्रीय बहुशो-विक्रेता भण्डारों की गतिविधियों से सम्पर्क स्थापित रखने के उद्देश्य से एक प्रादेशिक सहकारी संघ स्थापित किया गया। इस प्रांत में युद्ध-काल से चले आये खाद्यान्न नियन्त्रणों को स्वर्गीय गांधीजी के परामर्शानुसार सन् ४७ के अन्त में समाप्त कर दिया गया था, किन्तु कुछ काल उपरांत पुनः जुलाई सन् १९४८ में खाद्यान्न-वितरण की उचित व्यवस्था करने के उद्देश्य से प्रत्येक एक लाख से ऊपरवाले नगर में उपभोक्ता सहकारी समितियां (Consumers' Co-operative Societies) स्थापित की गईं। तमाम प्रांत में २५० राशनिंग उपक्षेत्र थे, जिनमें १८५ उपक्षेत्रों में खाद्यान्न-वितरण का कार्य १८५ उपभोक्ता समितियां संचालित कर रही थीं। सन् १९५३ में खाद्यान्न-नियन्त्रण पुनः समाप्त कर दिये गए हैं।

इस प्रकार उपभोक्ता समितियां पुनः संकट में पड़ गयी हैं। उनके लिये कोई नया क्षेत्र खोज निकालने की चिन्ता सामने है।

मध्यप्रदेश :—मध्यप्रदेश में उपभोक्ता भण्डारों द्वारा सम्पूर्ण बिक्री ३० जून सन् १९५० के अन्त में लगभग ५ करोड़ रही और अगले वर्ष सन् १९५१ में विभिन्न सहकारी भण्डारों द्वारा ६.९८ करोड़ की बिक्री हुई है। मध्यप्रदेश विपणन समिति विशेष रूप से वस्त्र और चीनी आदि के वितरण में ही संलग्न रही। ग्रामों व नगरों के उपभोक्ता भण्डार तथा बहु-प्रयोजन समितियां भी खाद्यान्न, चीनी, मिट्टी का तेल, कपड़ा, लोहा इस्पात, रासायनिक खाद और खली आदि वस्तुएँ वितरण करने में यथा-शक्ति योग देती रही हैं। प्रारम्भिक उपभोक्ता भण्डारों के अतिरिक्त प्रादेशिक पार्षद जो कि केन्द्रीय बहुशो-बिक्री समिति के समान अर्थ-कार्य करते रहे हैं, और प्रारम्भिक सहकारी भण्डारों के कार्यों को विधिवत् नियन्त्रित करते रहे।

उपभोक्ता सहकारी भण्डारों की अन्य देशों में प्रगति

सन् १९३५ में यूरोप के विभिन्न देशों में उपभोक्ता आंदोलन की दशा निम्नलिखित तालिका से प्रगट हो जाती है :—

यूरोप के विभिन्न देशों में उपभोक्ता भण्डार की स्थिति

१ देश	२ जनसंख्या	३ सदस्यता (१० लाख)	४ उपभोक्ता भंडार (संख्या)	५ व्यापार (१० लाख डालर)	६
१. जेकोस्लोवाकिया	१४.७	.८	९०३	६९.२	
२. डेनमार्क	३.७	.३	१,९३९	६३.४	
३. फिनलैंड	३.७	.५	५३२	७३.०	
४. फ्रांस	४१.२	२.५	२,९०८	२३३.५	
५. ग्रेट ब्रिटेन	४६	७.४	१,११८	१,८८०.५	
६. नार्वे	२.८	.१	४५७	३१.९	
७. स्वीडन	६.२	.५	७१९	१००.७	
८. स्विटजरलैंड	४.०	.४	५८५	९४.२	

[क्रमशः

६ संपूर्ण राष्ट्रीय व्यापार का प्रतिशत	७ उपभोक्ता भंडारों द्वारा उत्पादन (१० लाख डालर)	८ केन्द्रीय बहुशो-विक्रेता भंडारों का व्यापार (१० लाख डालर)
१. २.७	८.२	३६.४
२. ...	११.२	४०.३
३. २५	१३.६	४१.६
४. ...	३.१	५०.२
५. १२	३५४.४	५७३.१
६. ...	४.४	१०.१
७. १०	२६.३	४४.८
८. १०	.४	५७.५

इन देशों की जो प्रगति उपर्युक्त अंकों से प्रतीत होती है, वह यद्यपि पूर्व-युद्धकालीन अवधि की है, किन्तु फिर भी उससे स्पष्ट हो जाता है कि यूरोप के इन देशों मे सहकारिता का यह पक्ष बहुत विकसित रहा है। द्वितीय महायुद्ध का प्रभाव और भी अधिक हितकर सिद्ध हुआ है।

भारत में उपभोक्ता भण्डारों की असफलता के कारण

विभिन्न प्रान्तों के उपभोक्ता भण्डारों की प्रगति पर जो एक दृष्टि इससे पूर्व डाली जा चुकी है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एक-दो प्रान्तों को छोड़कर अन्य किसी भी प्रान्त में उपभोक्ता भण्डारों की प्रगति संतोषजनक नहीं रही है। थोड़ा-बहुत द्वितीय महायुद्ध के कारण जो खाद्यान्न व उपभोग

वस्तुओं की कमी सामान्य रूप से हो गयी थी, उसके कारण सहकारिता के इस पक्ष को प्रसार पाने में सुविधा मिली, किन्तु धीरे-धीरे वे परिस्थितियाँ बदलती जा रही हैं और आज सर्वत्र उपभोग की वस्तुएँ पर्याप्त मात्रा में प्रगट होने लगी हैं। ऐसी दशा में उपभोक्ता भण्डारों का कार्य-क्षेत्र व्यक्तिगत व्यवसायियों की प्रतिस्पर्द्धा में दिनोंदिन कम होता चला जा रहा है। यदि यह कहा जाय कि इस आन्दोलन का निकट भविष्य उज्ज्वल नहीं है, तो इस कथन में आश्चर्य करने की कोई आशंका नहीं है।

असफलता का मूल कारण ढंढ़ने के लिये कोई गम्भीर खोज करने की जरूरत नहीं है। इस विशाल देश की अधिकांश जन-संख्या (लगभग $\frac{3}{4}$ से अधिक) निर्धन होने के कारण दरिद्रता के चंगुल में फंसी है और बड़ी कठिनाइयों के बावजूद दोनों वक्त गुजर-बसर करने भर को रोटी पाती है। सन् १९४७ में एशियाई देशों की जो आर्थिक महासभा नयी दिल्ली में हुई थी उसके लिये आई. एल. ओ. कार्यालय, दिल्ली शाखा ने एशियाई देशों के आर्थिक पृष्ठभूमि तथा औद्योगिक विकास-विषयक आंकड़े संग्रहित किये थे। इन देशों की दरिद्रता का वास्तविक दृश्य इस उपर्युक्त प्रतिवेदन में व्यक्त किया गया है।

गरीबी के अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि ७३ प्रतिशत जन-संख्या ग्रामों में रहती है, जिसका कि नगरों से दूर होने के कारण एक-दूसरे से सम्पर्क बहुत कम है। इस प्रकार आय कम होने के कारण, नगरों से सम्बन्ध न होने के कारण और शिक्षा का प्रसार न होने के कारण, जनता की ओर से उत्साह की कमी रही। इसके अतिरिक्त प्रान्तों में कल्याणकारी कोआपरेटिव्ह

कामनवेल्थ का ढिंढोरा पीटनेवाले लोकप्रिय मन्त्री, चाहे अन्य विभागों में कितना ही रुपया निरर्थक फूंक देते हैं, किन्तु सहकारिता विभाग में सदैव अर्थाभाव बना रहा और इसकी अनेकों कल्याणकारी योजनायें कार्यान्वित करने के पूर्व ही समाप्त हो जाती हैं। इस प्रकार के उद्‌गार प्रगट करने के पूर्व लेखक ने उत्तर प्रदेश और मध्यप्रदेश के सहकारिता विभाग के विभिन्न उच्च कर्मचारियों के साथ कई बार विचार-विमर्श किया है। उनके कथनों से लेखक के उपर्युक्त विचारों की पूर्णतया पुष्टि होती है।

भावी कार्य योजना:— उपभोक्ता भण्डार भारतवर्ष में उस समय तक कदापि सफल न हो सकेंगे, जब तक हम उन्हें उत्पादन समितियों के साथ अथवा क्रय समितियों के साथ सम्बन्धित न कर दें। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक उपभोक्ता भण्डार या तो उत्पादन एवं क्रय-विक्रय समिति होना चाहिये अथवा क्रय-विक्रय समिति होना चाहिये, तभी हमारे देश की भावी अर्थ-व्यवस्था में वे सफल हो सकेंगे।

बड़े-बड़े नगरों में उपभोक्ता भण्डार अपना वर्तमान रूप बदलकर उत्पादन क्रय-विक्रय समिति का रूप धारण करें। अपनी अंश पूंजी का उत्पादन के क्षेत्र में बुद्धिमानी के साथ सदुपयोग करते हुए उचित श्रेणी की वस्तुएँ उचित मूल्यों पर प्रदान करें। मध्यग-वर्तन(middlemen's commission) पूर्णतया समाप्त करने में सफल योग दें।

इसके अतिरिक्त जो उपभोक्ता भंडार ग्रामों में कार्य कर रहे हैं, वे अपने वर्तमान स्वरूप को त्याग कर, क्रय-विक्रय समिति का रूप धारण कर लें। गांव के किसानों को न केवल उनके दैनिक

उपयोग की वस्तुएँ ही नगर से उचित मूल्य पर लाकर प्रदान करना एकमात्र उद्देश्य रह जाय, बल्कि किसानों की कृषिगत आवश्यकताओं के लिये खाद, उत्तम बीज और छोटे-छोटे औजार आदि भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध करना चाहिये। यदि इस प्रकार का परिवर्तन निकट भविष्य में कर लिया गया तो विश्वास है कि जो उत्साह जन-समुदाय ने द्वितीय महायुद्ध-काल में उपभोक्ता भण्डारों के प्रति दिखाया है, वह दिनों-दिन बढ़ता चला जायेगा और अधिकाधिक जन-संख्या इस आन्दोलन के द्वारा कल्याणकारी रामराज्य का स्वरूप दृष्टिगोचर कर सकेगी।

: १२ :

बहु-प्रयोजन समितियां
(Multi-purpose Societies)

बहु-प्रयोजन समितियों के स्थापित करने का विचार सर्वप्रथम रिजर्व बैंक आफ इंडिया के पदाधिकारियों के मस्तिष्क में आया। इस अधिकोष के प्रत्यय विभाग को कृषि-कार्यों के लिये ऋण आदि देने की व्यवस्था करने के लिये सुविधाएं प्रदान करनी पड़ती हैं। इस प्रकार कृषि-अर्थ-आयोजन समस्याओं का अध्ययन करते समय रिजर्व बैंक सहकारिता आन्दोलन के गत ३४ वर्ष के विकास से बिलकुल असंतुष्ट था। इस उद्देश्यवाली जो समितियां कृषि क्षेत्र में कार्य कर रही हैं और जिनमें प्रत्यय समितियां सबसे अधिक संख्या में हैं, कृषक के कृषि-जीवन में विशेष योग नहीं दे पायी हैं, जिसके अभाव में कृषक से सहकारिता के प्रति वफा की आशा करना बहुत बड़ी भूल है। प्रोफेसर इकबाल कुरेशी ने इस समस्या का विशद अध्ययन किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भारत में प्रत्यय-समितियां कृषि क्षेत्र में पूर्णतया असफल रही हैं।

लन्दन विश्वविद्यालय के अर्थ विज्ञान विभाग की लेडी प्रोफेसर वेराएनस्टे ने डाक्टर इकबाल कुरेशी के पुस्तक का प्राक्कथन लिखते हुए उनके विचारों से साम्य व्यक्त किया है। प्रत्यय-समितियों की असफलता के कारण सहकारी विभाग के विभिन्न प्रांतों के पदाधिकारियों के मस्तिष्कों में भी यह प्रश्न

जटिल बना हुआ था कि प्रत्यय-समितियों को किस प्रकार की समितियों द्वारा प्रतिस्थापित किया जाय।

इसके अतिरिक्त सन् १६३५ के परिवर्तित शासन विधान के अन्तर्गत भारतवर्ष के प्रांतों में जनमत द्वारा चुनी हुई धारा सभाएं स्थापित हो चुकी थीं। सात प्रांतों में कांग्रेस का बहुमत रहा था, तीन में मुसलिम लीग और एक में मिश्रित दल मंत्रि-मंडल, स्थापित हुए थे। इस परिवर्तन के कारण सहकारिता विभाग उत्साही तथा जनता के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों के हाथ में आ गये थे। इन मंत्रियों से जनता को बहुत ऊंची-ऊंची आशाएं थीं. जिनकी पूर्ति जनोपयोगी विकास योजनाओं के द्वारा ही हो सकती थी। जनोपयोगी विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने में जन–सहयोग की बहुत बड़ी आवश्यकता थी। इसके लिये सहकारिता के अतिरिक्त और कोई ऐसा प्रजातांत्रिक संगठन प्रारूप नहीं था, जिसके द्वारा ज्यादा से ज्यादा व्यक्तियों का भला हो सकता।

सन् १६२६ से कृषि-वस्तुओं के मूल्यों में भारी कमी आई थी और इससे कृषकों का ऋण-भार दिन-प्रतिदिन बढ़ता चला गया था, सहकारी-प्रत्यय-भारी दिन-प्रति-दिन बढ़ता चला गया था और सहकारी प्रत्यय समितियों- से लिये गये ऋण अवधि पूर्ण होने पर भी कृषकों द्वारा नहीं लौटाए जा रहे थे। सहकारिता के सिद्धांतों की सफलता में संसार के अन्य देशों के सफल प्रयोग को देखते हुए भारत में इन सिद्धांतों की असफलता की किसीको शंका नहीं थी, किन्तु भारत में सहकारिता के प्रत्यय क्षेत्र के कटु अनुभव इन मंत्रियों के समक्ष थे। डाक्टर कैलासनाथ काटजू, जो कि आज हमारे म. प्र. में प्रधानमंत्री हैं, सन् १६३७ में संयुक्त प्रांत के मंत्रिमंडल में सहकारिता

विभाग के जनप्रिय मंत्री थे। उन्होंने भी इस दिशा में काफी विचार-विमर्श के उपरांत यह निर्णय किया कि कृषक के रहन-सहन के स्तर में उस समय तक कोई संतोषप्रद प्रगति नहीं हो सकती, जब तक कि उसका सर्वांगीण आर्थिक और सामाजिक जीवन एक ही सहकारी समिति के कार्यक्षेत्र में नहीं आ जाता और विभिन्न दिशाओं से एक ही साथ उसे इस अनुभव का बोध नहीं होने लगता कि उसके चारों ओर सहकारिता की छाया है।

विशेषकर प्रत्यय समितियों की ही दशा उन दिनों बहुत खराब थी और प्रत्यय समितियों के अतिरिक्त जो अप्रत्यय समितियां, विपणन, उपयुक्त कृषि-कार्य तथा पूर्ति आदि उद्देश्यों के लिये संगठित की गयी थीं, वे काफी संतोषजनक कार्य कर रही थीं। इन सब परिस्थितियों के अध्ययन के उपरांत जनप्रिय मंत्रियों, सहकारिता विभाग के कर्मचारियों और रिजर्व बैंक आफ इंडिया के पदाधिकारियों तथा जनसेवियों के बीच इस बात की धारणा गहरा स्थान बनाती चली जा रही थी कि एक-एक उद्देश्यवाली अलग-अलग सहकारी समितियों के स्थान पर कृषि-क्षेत्र में प्रत्येक ग्रामीण इकाई के लिये एक बहुप्रयोजन-समिति अधिक सफलतापूर्वक कार्य कर सकेगी।

इस दिशा में व्यावहारिक कदम उठाने के लिये किन्तु कोई भी व्यक्ति, सरकारी अथवा गैर-सरकारी आगे आने के लिये तत्पर नहीं था। इसलिये डा० कैलासनाथ काटजू ने जनवरी सन् १६३६ में प्रांतीय सहकारिता कान्फ्रेंस में, जो कि बिजनौर में हुई थी, बहुप्रयोजन समितियों के प्रयोग को सफल बनाने के लिये और पुरानी ऋण प्रदान करनेवाली समितियों को प्रति-स्थापित करने के लिये योग मांगा। तदुपरांत उत्तर प्रदेश में

प्रत्यय-पत्र पिछड़ता गया और उनके स्थान पर बहु-प्रयोजन समितियां दिनोंदिन स्थापित होती चली गयीं। सहकारिता विभाग के पदाधिकारियों को हिदायतें दी गयीं कि वे वर्तमान उत्तम प्रत्यय समितियों को बहु-प्रयोजन समितियों में परिणित कर दें। इस परिवर्तन से सहकारिता में पुनः जागृति आती हुई दृष्टिगोचर हुई। इसी बीच दायित्व संबंधी धारा में भी परिवर्तन कर दिया गया और बहु-प्रयोजन-समितियां सीमित दायित्व के आधार पर ही निर्मित की जाने लगीं।

समर्थनकर्त्ताओं के तर्क :— बहु-प्रयोजन समितियों के समर्थकों द्वारा इन समितियों के स्थापित किये जाने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :—

१. भारतीय कृषक नगर से बिलकुल विच्छिन्न रहता है और उसकी कृषि-समस्यायें विभिन्न रहती हैं। एक उद्देश्यवाली कम से कम ५–६ समितियों की सदस्यता उसे अपनी विभिन्न समस्याओं के समाधान के लिये ग्रहण करनी पड़ेगी। ऐसी दशा में एक ही समिति द्वारा उन सब समस्याओं का समाधान क्यों न कर दिया जाय।

२. भारतीय कृषक सामान्यतया गरीब होता है और उसकी आर्थिक स्थिति इतनी अच्छी नहीं होती कि विभिन्न समितियों की सदस्यता ग्रहण करने में वह अपनी अल्प पूंजी को बिखेरता फिरे।

३. प्रत्येक ग्राम में बहुत थोड़े ही व्यक्ति पढ़े-लिखे और इस योग्य पाये जाते हैं कि वे एक उद्देश्यीय सहकारिता समितियों के लेखे रख सकें। बार-बार उन्हीं व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न समि-

तियों का कार्य-भार संभालना पड़ता है, इसलिये भी यह जरूरी था कि एक ही बहु-प्रयोजन समिति स्थापित करके उन व्यक्तियों को सुविधा दे दी जाय।

४. कृषकों के सम्बन्ध एक ही उद्देश्यवाली समितियों के साथ बहुधा क्षणिक रहते थे। घनिष्ठ सम्बन्धों के अभाव में कृषक को समिति के प्रति वफादारी नहीं होती थी। बहु-प्रयोजन समितियों के स्थापित किये जाने के उपरांत इस दोष का निवारण किये जाने में कोई शंका नहीं रह जाती।

इन उपर्युक्त कारणों के आधार पर बहु-प्रयोजन समितियों की स्थापना का विरोध धीरे-धीरे कम होता चला गया और पुरानी परिपाटियों को पीटनेवाले पदाधिकारी भी परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार कार्य करने के लिये उद्यत् हो गये।

बहु-प्रयोजन समितयों का कार्य-क्षेत्र:— इन समितियों के कार्य-क्षेत्र के विषय में काफी समय तक वाद-विवाद चलता रहा। स्वयं रिर्जव बैंक आफ इंडिया के पदाधिकारियों ने जो कि प्रारम्भ से ही बहु-प्रयोजन समितियों का समर्थन कर रहे थे, इनके कार्य-क्षेत्र के विषय में थोड़ा सजग होकर आगे बढ़ने की नीति का अनुसरण करने का आदेश दिया। इन पदाधिकारियों के शब्दों में इस कथन की सत्यता निम्नलिखित वाक्य से प्रगट हो जाती है :—

"यह सुझाव कदापि नहीं दिया गया था कि वर्तमान प्रत्यय समितियां सर्वत्र तत्काल उन सब प्रकारों के भार को उठा लें, किन्तु उनको कार्य-क्षेत्र के विषय में सचेत होकर धीरे-धीरे बढ़ना है और कृषक के सर्वांगीण जीवन को इनके अन्तर्गत ला देना अन्तिम लक्ष्य है।"

सहकारिता के विषय में इन्हीं दिनों मद्रास में भी एक कमेटी नियुक्त की गयी थी, उस कमेटी ने भी समान विचार व्यक्त किये हैं..."यदि समितियां अपनी गतिविधियां प्रारम्भ में अपने वर्तमान उपनियमों के अनुसार ही सीमित रखें, तो हमें विश्वास है कि अपने द्वितीय कदम में वे पूर्णरूपेण सफल बहु-प्रयोजन समितियां बन सकेंगी।"

"प्रत्यय पूर्ति करने से कृषक के जीवन का केवल एक पक्ष सम्पर्क में आता है, इसलिये प्रारम्भिक सहकारी समिति की गतिविधियों को इस प्रकार से विस्तृत कर दिया जाय कि वह उसके सम्पूर्ण जीवन को आच्छादित कर सके। प्रारम्भिक प्रत्यय समितियां इस प्रकार से पुनर्संगठित की जायं कि वे अपने सदस्यों के सम्पूर्ण आर्थिक विकास का केन्द्र बन सकें।"

इस समिति के मतानुसार परिवर्द्धित और पुनःसंगठित प्रारम्भिक समिति को *निम्नलिखित उद्देश्य* रखने चाहिये :—

(अ) फसल उत्पादन के लिये अर्थ आयोजन।

(ब) निकटवर्ती सहकारी विपणन कृषि की उपज को विक्रय हेतु पहुंचाने में अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करना।

(स) कृषकों के बीच चारा, खाद, कृषि-यंत्र और अन्य दैनिक आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति करना।

(ड) कृषक के पशुओं का दूध संग्रह करके निकट के डेरी में विक्रय के हेतु भेजना तथा पशुओं की बीमारी में सहायता प्रदान करना।

(इ) कृषकों के लिये ऐसे कृषि-यंत्रों को उपलब्ध करना जो कि वे व्यक्तिगत रूप से नहीं खरीद सकते।

(ई) सहायक धंधे प्रोत्साहित करना।

रजिस्ट्रारों की कांफ्रेंस द्वारा प्रस्तावित कार्यक्षेत्र

१४ मई सन् १९४७ में रजिस्ट्रारों की १५ वीं कांफ्रेंस में बहु-प्रयोजन समिति के कार्य-क्षेत्र पर विचार किया गया। इस सभा में काफी वाद-विवाद के बाद संयोजना-समिति के द्वारा प्रस्तावित उपर्युक्त सुझाव स्वीकृत कर लिये गये।

इस सभा में इस प्रकार की समिति की सदस्यता के विषय में यह निर्णय किया गया कि उस क्षेत्र में रहनेवाले सभी व्यक्ति सदस्यता ग्रहण कर सकते हैं। कम से कम ५० व्यक्ति सदस्य बनने को तैयार हों, तब इन समितियों का निर्माण किया जाय। इस प्रकार की समितियों को पर्याप्त व्यवसाय मिल सके, इस उद्देश्य से इनका कार्य-क्षेत्र केवल एक ग्राम तक ही सीमित रखना जरूरी नहीं है। कृषकों को दैनिक उपभोग सम्बन्धी वस्तुएं जैसे कपड़ा, नमक, मिट्टी का तेल, चीनी आदि विक्रय करने के लिये पंजीयक से अनुमति लेनी होगी और पंजीयक केवल उन्हीं समितियों को नकद खरीद-बिक्री करने की आज्ञा देगा जिनका आकार, आर्थिक स्थिति और प्रबन्ध-व्यवस्था इस प्रकार का व्यवसाय करने के लिये उपयुक्त होगी। किसी भी समिति को उसकी प्रदत्त अंश पूंजी के दुगने से अधिक राशि का क्रय-विक्रय व्यापार करने की अनुमति न दी जायेगी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांतः १५ अगस्त १९४७ को भारतवर्ष ने स्वतन्त्रता प्राप्त की और तभी से बराबर भारतीय ग्रामीण जीवन के विकास और ग्राम पुनर्संगठन की समस्याओं को सुलझाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। हमारे वर्तमान शासन सत्ता-धारी इस धारणा को लेकर आगे बढ़ रहे हैं कि बहु-प्रयोजन समितियों के द्वारा ग्रामीण जीवन में आश्चर्यजनक उन्नति हो

सकती है। प्रत्येक प्रांत इस दिशा में सहकारिता संगठन को मोड़ रहा है।

उत्तरप्रदेश में बहुप्रयोजन समितियां

उत्तर प्रदेश में अन्य प्रांतों की अपेक्षा इस दिशा में सबसे अधिक कार्य हुआ है। इस प्रकार की समितियों के विकास के लिये एक निश्चित योजना उस प्रांत में स्वीकार कर ली गयी। इन समितियों से खाद्यान्न-उत्पादन की अभिवृद्धि में और हाथ का बुना कपड़ा, (खादी) बुनने में पर्याप्त सहायता ली गयी है। नये ढंग से खेती करना, डेरी खोलना, पशुपालन, कताई-बुनाई गृह-उद्योगों का संगठन, उपभोक्ता सामग्रियों का वितरण आदि अनेकानेक विषय इन समितियों के उद्देश्यों के अन्तर्गत आते हैं। इस योजना के अन्तर्गत १५-१५ ग्रामों के ब्लाक बनाये गये हैं। एक केन्द्र प्रत्येक ब्लाक के लिये खोला गया है जहां पर राज्य सरकार की ओर से उत्तम बीज वितरण करने की व्यवस्था रहती है। प्रत्येक ग्राम में बहु-प्रयोजन समिति स्थापित करने की योजना थी। उन १५ ग्रामों की बहु-प्रयोजन समितियों के लिये संघ, बीज वितरण भण्डार में ही स्थापित किया जायेगा। इस संघ का नाम विकास संघ होगा, जो कि कुछ काल उपरांत बीज वितरण व्यवस्था को अपने हाथ में ले लेगा और बीज वितरण कार्य के अतिरिक्त कृषि यंत्र आदि भी कृषकों के लिये रखेगा। इस दिशा में ६०० ब्लाक तैयार किये गये हैं, जिनके अन्तर्गत १४ हजार ग्राम आते हैं। इन ग्रामों में लगभग ४ हजार पुराने ढंग की एक उद्देश्य वाली समितियां कार्य कर रही हैं। इन समितियों को नवीन आदर्श के अनुसार परिवर्तित करना है। बाकी दस हजार ग्रामों में प्रारम्भ से ही बहु-प्रयोजन समितियां स्थापित की जावेंगी। प्रत्येक परिवार के कम से कम एक वयस्क को सहकारिता समिति का सदस्य बनाने का अधिकार है।

उपर्युक्त योजना बाद में २४ हजार ग्रामों तक प्रसारित कर दी गयी और उन ग्रामों में ७ हजार पुराने ढंग की समितियां पहले से कार्य कर रही थीं, उनका नवकरण और १,७०० नयी समितियां स्थापित करने का लक्ष्य उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा स्वीकार किया गया है। इन समितियों के पंजीयन करने में इस बात का ध्यान रखा गया कि कोई भी ग्राम-समिति उस समय तक स्थापित न की जाय जब तक कि ७०-८० प्रतिशत परिवारों के एक-एक वयस्क उसकी सदस्यता स्वीकार न कर लें। जून सन् १९४८ में जो ५६७ सरकारी बीज भंडार कृषि विभाग के अन्तर्गत कार्य कर रहे थे, प्रांतीय सहकारिता विपणन विकास संघ को स्थानान्तरित कर दिये गये तथा दो करोड़ रुपये का उत्तम बीज वितरणार्थ इस विभाग को सौंप दिया गया। सन् १९४९ से विकास संघ अपने-अपने ब्लाक के गांवों में कपड़ा भी बेच रहे हैं। कुछ जिलों में मिट्टी के तेल के अभाव को दूर करने के लिये इन्हीं समितियों के द्वारा उचित वितरण व्यवस्था की गई थी। अब जब कि कपड़े, तेल, नमक, आदि चीजों की कमी नहीं रही है और नगरों में भी अन्न नियंत्रण की व्यवस्था नहीं रही, तो ऐसी दशा में कुछ विषम समस्याएं इन विकास संघों के समक्ष उपस्थित हो गयी हैं, जिनको हल करना कठिन हो गया है। प्रत्येक विकास संघ के पास कपड़े का ऐसा स्कन्ध (stock) एकत्रित हो गया है जिसकी बिलकुल मांग नहीं है। इन सब कार्यों के अतिरिक्त बहु-प्रयोजन समितियां प्रत्यय भी नियमित रूप से प्रदान कर रही हैं। सन् १९५१-५२ में इन समितियों ने उत्तर प्रदेश में २.२४ करोड़ रुपया विकास कार्यों के लिये उधार दिया था। किसान लोग अपनी-अपनी आवश्यकताएं विकास संघ को समितियों के द्वारा सूचित कर देते हैं। खाद्यान्नों का विपणन कार्य कोई विशेष मात्रा में इन समितियों द्वारा

सम्पन्न नहीं किया जा सका, क्योंकि खाद्यान्नों का खुला विक्रय नियंत्रण आदि के कारण बन्द था।

बम्बई प्रदेश में बहु-प्रयोजन समितियां

बम्बई प्रदेश की बहु-प्रयोजन समितियां दो वर्गों में विभाजित की जा सकती हैं—

१. ग्राम्य बहु-प्रयोजन समिति

२. समूह या वर्ग बहु-प्रयोजन समिति

ग्राम्य बहु-प्रयोजन समिति:—बहुधा एक ग्राम के लिये एक समिति होती है। यह समिति सीमित अथवा असीमित कोई भी हो सकती है। इसका कार्य करने का क्षेत्र एक ही ग्राम तक सीमित रहता है। एक उद्देश्यवाली जो पुरानी समितियां उचित ढङ्ग से चल रही थीं उनको भी बहु-प्रयोजन समितियोंमें परिणित कर दिया गया है।

वर्ग बहु-प्रयोजन समितियां:— ये समितियां सीमित दायित्व के आधार पर संगठित की जाती हैं। इनका कार्य-क्षेत्र ५ मील के अर्ध-व्यास में रहता है, जिसके अन्तर्गत ५–७ गांव आ जाते हैं। इन समितियों को बहुधा ऐसे स्थानों पर संगठित किया जाता है जहां विपणन सुविधा रहती है। इनके उद्देश्यों के अन्तर्गत कृषकों की कृषि-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करना भी रहता है। इसके अतिरिक्त उनकी कृषि-उपज विपणन करना और उनको उपभोग-वस्तुएँ उपलब्ध करना आदि उद्देश्य भी रहते हैं।

बहु-प्रयोजन समिति का उस समय तक पंजीयन नहीं किया जा सकता जब तक कि उसकी अंश पूंजी ५:० रु० संग्रहित

न हो चुकी हो। पहले पांच वर्षों तक राज्य सरकार की ओर से अनुदान प्राप्त होता रहता है। सन् १९४७ में एक कृषि-प्रत्यय संगठन समिति नियुक्त की गयी थी, जिसमें इस बात की सिफारिश की गयी थी कि केन्द्रीय और प्रारम्भिक सहकारिता संगठनों को न केवल कृषि-अर्थ आयोजन में ही मदद देना चाहिये, बल्कि ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को पुनर्संगठित और पुनर्जीवित करने में अधिकाधिक योग देना चाहिये। सन् १९४९–५० में २,१६१ समितियां थीं, जिनकी सदस्यता २ लाख २० हजार व्यक्तियों ने ग्रहण कर रखी थी। इनकी अंश पूंजी ७३.०२ लाख रुपया थी और कार्यवाहक पूंजी २८७.६८ लाख रुपया थी, जिसमें से ८८.८४ लाख रु० केन्द्रीय अधिकोष से लिया हुआ ऋण था। इस प्रकार इन समितियों की प्रगति काफी संतोषजनक थी।

पश्चिमी बंगाल में बहु-प्रयोजन समितियां

पश्चिमी बंगाल की सरकार ने ५ हजार बहु-प्रयोजन समितियां स्थापित करने के लिये सन् १९४८–४९ में दो-वर्षीय योजना प्रारम्भ की थी। इस योजना के उद्देश्यों का उल्लेख करते हुए निम्न आशय प्रकट किया गया था:—

(१) इस योजना के द्वारा ग्रामीण क्षेत्रों में प्रत्येक व्यक्ति को सहकारिता-विचारक बनाना है।

(२) प्रत्येक व्यक्ति को अपने अन्य साथियों की सहायता से बौद्धिक, शारीरिक और आत्मिक उन्नति सर्वांगीण रूप से करनी है।

(३) जन-आवश्यकताएँ विधिवत् सरकार के समक्ष प्रस्तुत की जा सकें और सरकार द्वारा जो जनोपयोगी सेवाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं, वे जनता तक पहुँच सकें; इसलिये इन

तीन उद्देश्यों की पूर्ति करने के उद्देश्य से पश्चिमी बंगाल में बहु-प्रयोजन समितियों का कार्यक्षेत्र निम्नलिखित निश्चित हुआ —

१. प्रत्यय और अर्थ-आयोजन,
२. शिक्षा प्रचार,
३. सिंचाई,
४. मुर्गी-पालन,
५. पशु-पालन और नस्ल सुधार,
६. गृह-उद्योग,
७. स्वास्थ्य और सफाई.
८. अधिक अन्न उपजाओ तथा विपणन.
९. संग्रहण और भण्डागार,
१०. प्रचार व प्रचलन,
११. विवादों का निपटारा।

यह योजना आदरणीय डाक्टर कैलासनाथ काटजू के परामर्श से, जो कि उस समय पश्चिमी बंगाल के गवर्नर थे, सहकारिता विभाग के मन्त्री द्वारा तैयार की गई थी। पश्चिमी बंगाल के सहकारिता विभाग के मन्त्री स्वयं उत्तर प्रदेश पधारे थे और वहां की बहु-प्रयोजन समितियों की कार्य-प्रणाली का अध्ययन करने के उपरान्त उन्होंने इस दिशा में कदम उठाया था। इस योजना के प्रसार के लिये ग्रामों को २,५०० व्यक्तियों की इकाइयों में विभक्त किया गया था। बड़े-बड़े गांव स्वयं एक इकाई मान लिये गये थे। प्रत्येक इकाई के लिये एक बहु-प्रयोजन समिति स्थापित की गई है और समिति के अंश की कीमत २ रु० निश्चित की गयी है। कोई व्यक्ति १० अंशों से अधिक

नहीं ले सकता। प्रत्येक समिति का दायित्व सीमित है। १०-१२ समितियों के समूह को एक शिक्षित निरीक्षक की देखभाल में सौंपा गया है। प्रान्तीय सरकार आर्थिक सहायता भी प्रदान करती है। बीज आदि के वितरण के सम्बन्ध में भी उत्तर प्रदेश के समान व्यवस्था करने का विचार है। दिसम्बर सन् १९४८ तक १,१६२ समितियों का पंजीयन किया जा चुका है, जिनकी सदस्य-संख्या १,४२,५२१ थी। जिन समितियों ने कार्य प्रारम्भ कर दिया था, उनकी कार्यवाहक पूंजी २६ लाख रुपया थी। इन समितियों द्वारा नियन्त्रित वस्तुओं के वितरण में जो योगदान दिया गया है, उसकी मुक्तकण्ठ से जन-साधारण ने प्रशंसा की है और कालाबाजारी, रिश्वतखोरी आदि बहुत-से दोषों को समाज से हटाने में योग दिया है।

इन समितियों की वर्तमान प्रगति काफी संतोषजनक है, किन्तु इनकी इस अल्पकालीन सफलता के आधार पर इनके भावी विकास के विषय में अनुमान करना खतरनाक ही होगा। इन विभिन्न उद्देश्यों को देखते हुए, जो कि इस योजना के संचालकों ने निर्धारित किये हैं, यह आभास होता है कि जिस दिन राजकीय अर्थ-सहायता इन समितियों को प्राप्त होना बन्द हो जायेगी, उसी दिन उनका कार्य ढीला पड़ जावेगा।

उड़ीसा प्रदेश में बहु-प्रयोजन समितियां

उड़ीसा में बहु-प्रयोजन समितियों का विकास बहुत विलम्ब से हुआ। सन् १९४८ में सर्वप्रथम ये समितियां यहां प्रारम्भ की गयीं। जून सन् ४८ तक केवल ६८ बहु-प्रयोजन समितियां कार्य कर रही हैं जिनमें से चार केवल आदिवासियों के क्षेत्र में कार्य कर रही हैं। इन चारों समितियों को राज्य की

ओर से पर्याप्त आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। इन समितियों को प्रान्तीय सरकार द्वारा संस्थापित, आदिवासियों के विकास के हेतु एक विभागीय अंग ही स्वीकार करना पड़ेगा।

इस प्रान्त में बहु-प्रयोजन समितियों के निम्नलिखित कार्य निर्धारित किये गये हैं—

(१) ग्रामीणों के लिये खाद्यान्न संग्रहित करना।

(२) अतिरिक्त खाद्यान्न विपणन हेतु विपणि में भेजने की व्यवस्था करना।

(३) कृषकों के लिए उत्तम बीज उपलब्ध करना, खाद की व्यवस्था करना और नये कृषि यन्त्रों को मंगाकर देना।

(४) उत्तम किस्म का साँड अपने क्षेत्र में उपलब्ध करना।

(५) कृषकों की आवश्यकता संबंधी उपभोग सामग्रियां उपलब्ध करके वितरण करने की व्यवस्था करना।

(६) जनता और सरकार के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना और राज्य सरकार के कर, लगान आदि की बसूली की व्यवस्था करना।

उड़ीसा के ग्रामों में जो अनेकानेक आर्थिक बुराइयां हैं, उन्हें दूर करने के लिये बहु-प्रयोजन समितियां बहुत उत्तम हैं। इस प्रदेश में प्रत्यय समितियों की असफलता का एकमात्र कारण यह था, कि कृषकों के जीवन के केवल एक अङ्ग से उनका संबंध था और दूसरे पक्ष पूर्णतया अछूते थे। बहु-प्रयोजन समितियों में यद्यपि उद्देश्यों की एकता का अभाव है, किंतु वे कृषक के जीवन में व्यापक रूप से घर बना लेती हैं; इसलिये इनकी सफलता अवश्यम्भावी है। इस दिशा में अभी तक जो सबसे

बड़ी कठिनाई अनुभव हुई है, उसकी चर्चा इसी अध्याय में अन्यत्र कर दी गई है। बहुधा योग्य उचित शिक्षण-प्राप्त उत्साही जन-सेवियों का बहुत अभाव है जो कि जन-कल्याण के लिये कुछ समय लगा सकें। इसके अतिरिक्त ग्राम पंचायतों के स्थापित किये जाने के उपरांत बहु-प्रयोजन समितियों के कार्य में और भी शिथिलता आ गयी। गत सात साल की राजनैतिक गतिविधियों ने जन-साधारण के समक्ष कुछ इस प्रकार का गलत उदाहरण प्रस्तुत किया है कि राजनैतिक गुटबन्दी के द्वारा एक सामान्य व्यक्ति बहुधा बहुत रुपया उपार्जित करके सुखमय जीवन व्यतीत करने लग जाता है, जबकि जन-कल्याण के क्षेत्र में कार्य-रत् जन-सेवक जहाँ का तहाँ पड़ा है। उसको समाज में कोई आकस्मिक लाभ प्राप्त नहीं हुए हैं। इस कारण बहु-प्रयोजन समितियों के कार्यकर्त्ता उस क्षेत्र को त्याग पंचायत की दलबंदियों का लाभ उठा रहे हैं।

बहु-प्रयोजन समितियों के लिये उपयुक्त कार्यक्षेत्र

किसी भी नयी प्रकार की सहकारी समिति को अपनाने से पूर्व उसके भावी विकास के विषय में पूर्णतया निश्चित हो लेना चाहिये। सहकारिता के विकास का जो गत ५० वर्षों का इतिहास है वह इस बात का प्रत्यक्ष सबूत देता है कि हमने पहले भी कई बार बिना सोचे-विचारे सहकारिता के क्षेत्र में नये प्रयोग प्रारम्भ कर दिये, जो कि आगे चलकर हमें त्यागने पड़े। इसके अतिरिक्त जितने समय तक हमने उनको सफल बनाने का अकथनीय प्रयास किया, हमारा काफी राष्ट्रीय बल, धन, वैभव उनके पीछे नष्ट हुआ और अन्त में हमें वे सिद्धान्त त्याग देने पड़े। उदाहरण स्वरूप एक उद्देश्यवाली, विशेषकर प्रत्यय समितियां, हमारे देश के लिये न कभी उपयुक्त थीं, न उन्होंने कभी अपने

पैरों पर खड़े होने योग्य सफलता ही दिखाई और अन्त में भारतीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारों के करोड़ों रुपये व्यय होने के उपरांत ३२ वर्ष बाद हमें उन समितियों को त्याग देना पड़ा। सन् १९३७ से हमने बहु-प्रयोजन समितियों की स्थापना प्रारम्भ की है। उनके उद्देश्यों और कार्य-क्षेत्रों के विषय में भी बड़े आदर्श प्रान्तीय सरकारों ने आगे रखे हैं, किन्तु गत ७ वर्षों में हमारे वे स्वप्न तनिक भी मूर्त-रूप में नजर नहीं आये। इसके अतिरिक्त हमारे देश की जो परिवर्तनशील परिस्थितियां चल रही हैं, उनको देखते हुए कोई नहीं कह सकता कि इन बहु-प्रयोजन समितियों के पीछे कोई जनयोग भी है अथवा नहीं। उपर्युक्त वर्णन में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राजनीतिक क्षेत्र में (पंचायत आदि की दलबंदियों में) अधिक आकर्षण है, जब कि बहु-प्रयोजन समितियों के रचनात्मक कार्यों में न आकर्षण है और न जन-उत्साह उसके साथ है। केन्द्रीय सरकार के द्वारा देश के भावी निर्माण की योजनाएं तैयार करने वाला संयोजना आयोग भी कुछ अन्य दिशाओं में सहकारिता आन्दोलन को ले जाने का प्रयास कर रहा है। उनकी ग्राम्य व्यवस्था प्रणाली और देशव्यापी सामुदायिक योजनाएं भारत के ग्रामों को एक नया ही स्वरूप प्रदान करने की कोशिश कर रही हैं, किन्तु वस्तुस्थिति उससे बिलकुल भिन्न है। देश की ग्रामीण समस्याएं इनमें से किसी भी योजना द्वारा सफल होने की सम्भावना नहीं है। स्वयं पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अखिल भारतीय कार्यकारिणी के समक्ष भूमि-सुधारों के ऊपर विचार व्यक्त करते हुए कहा :—

" हमने जमींदारी प्रथा का अन्त कर डाला है, किन्तु इससे हमारी ग्रामीण समस्याएं हल नहीं हो जातीं। हमें, प्रत्येक व्यक्ति के पास अधिक से अधिक कितनी भूमि होनी चाहिये,

निश्चित कर देना होगा। उस सीमा से अतिरिक्त भूमि जिस व्यक्ति के पास होगी, वह उसे अन्य ग्रामीणों को देनी होगी। और सबको मिलकर सहकारी कृषि करके ग्राम्य समस्याओं को सुलझाना होगा।" †

इस उपर्युक्त भाषण से प्रतीत होता है कि अखिल भारतीय कांग्रेस के अग्रगण्य नेता सहकारी कृषि के सिद्धांतों में वर्तमान ग्राम्य जीवन-दोषों का हल ढूंढ़ने लगे हैं। इस तरह इस वक्त हम ऐसे चौराहे पर खड़े हैं, जहां से हमारे सामने चार सड़कें चार दिशाओं की ओर जा रही हैं और हमारे मार्ग निर्देशक उन चारों का लक्ष्य एक ही बताते हैं। बहु-प्रयोजन समितियां, सहकारी कृषि प्रणाली, सामुदायिक योजना और आचार्य विनोबा का भूदान यज्ञ आज सभी तो ग्राम्य समस्याओं के अपने-अपने हल उपस्थित करते हैं। ऐसी दशा में बहु-प्रयोजन समितियों के पीछे एक मत, एक निर्णय, एक प्रण नहीं है; इसलिये उनकी दशा ७ साल के बाद भी कोई संतोषजनक प्रगति नहीं कर सकी है। हमारे देश के जो कुछ सीमित साधन हैं, उन्हें यदि एक ही दिशा में लगाया जाता और भिन्न मार्गों का अनुसरण न किया जाता तो सम्भव था कि इन समितियों से ऐच्छिक लाभ सिद्ध हो जाता।

---

† अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा प्रकाशित पाक्षिक पत्रिका 'आर्थिक समीक्षा' मई १९५४।

: १३ :

कृषि-क्षेत्र में सहकारिता का प्रयोग
(Application of Co-operative Principles in forming)

भारतवर्ष एक कृषि-प्रधान देश है। सन् १९५१ की जन-गणना के प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार ३५,६६,९४,३८९ जनसंख्या में से २४,९१,२२,४४९ व्यक्ति कृषि से अपनी जीविका चलाते हैं जो कि सम्पूर्ण आबादी का लगभग ६९ प्रतिशत आता है। इन व्यक्तियों के रहन-सहन के स्तर की दुर्दशा का अनुमान हम भली-भाँति इस बात से लगा सकते हैं कि राष्ट्रीय आय-जाँच-समिति ने सन् १९४८-४९ की प्रति कृषक औसत आय ५०० रु० वार्षिक अनुमानित की है और प्रत्येक कृषक की गृहस्थी में जन-गणना कमिश्नर के अनुसार ५½ व्यक्ति होते हैं। इस प्रकार ९१ रु० प्रति व्यक्ति वार्षिक आय आती है, जबकि आजकल की तेजी को देखते हुए एक व्यक्ति का केवल सामान्य भोजन-व्यय २४० रु० वार्षिक आता है। इसलिये उनकी आर्थिक दशा में सुधार करने के लिये ऐसे उपायों की जरूरत है, जिनके द्वारा प्रत्येक ग्रामीण व्यक्ति की आय में वृद्धि हो और उसकी आर्थिक दशा सुधर सके।

कृषि-व्यवसाय हमारे देश का सबसे महत्वपूर्ण उद्योग है, क्योंकि देश की राष्ट्रीय आय में कृषि-क्षेत्र का कुल योग ४७.६ प्रतिशत आता है, जो कि लगभग आधे योगदान के लिये उत्तरदायी है। इसलिये यह देश का सबसे अधिक महत्वशील उद्योग है, किन्तु यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि हम अभी तक कृषि को उद्योग प्रणाली के प्रमाणित सिद्धांतों के अनुसार संगठित

करने में असफल रहे। लगभग प्रत्येक कृषक के लिये वह जीविका-निर्वाह का एक साधन है। आर्थिक कहो अथवा अनार्थिक, उसे इस बात का विचार करने का कोई अवसर ही नहीं, क्योंकि इस साधन की अनार्थिकता पर विचार कर लेने के उपरान्त भी उसके लिये कोई अन्य जीविका-उपार्जन का साधन तो उपलब्ध नहीं है। जो कुछ थोड़े-से लोग पैतृक-ऋणों के भार उतारने में अपनी कृषि-भूमियां खो चुके हैं, वे या तो साधन-विहीन होकर वहीं उसी ग्राम में भूमि-विहीन कृषकों के वर्ग में सम्मिलित हो गये हैं या नगरों में अकुशल श्रमिकों के रूप में उदरपूर्ति के लिये बोझा ढोते फिरते हैं, जिनकी संख्या सन् १९५१ के आंकड़ों के अनुसार लगभग ५ करोड़ आंकी गई है। इन लोगों को आज तक समाज में अन्य लाभप्रद सेवा-कार्य प्राप्त नहीं हो सका है। इसके अतिरिक्त युद्ध से लौटे हुए सैनिकों के पुनर्वास तथा पश्चिमी-पंजाब और पूर्वी-बंगाल से आये हुए निष्कासित शरणार्थियों के पुनर्स्थापन की समस्या तथा पढ़े-लिखे सफेदपोश नवयुवकों को सेवा-वृत्ति उपलब्ध करने का प्रश्न दिनोंदिन उग्र रूप धारण करता चला जा रहा है। इन समस्याओं का सन्तोषप्रद समाधान करना भी कठिन हो रहा है और फिर ऐसी स्थिति में जिन किसानों के पास जोत में अनार्थिक भूमि है, वे यदि उसे भी त्याग कर अन्य पेशे की खोज करें, तो उनको पेट भर अन्न के दाने मिलना भी दुर्लभ हो जायगा।

ऐसी दशा में कृषि-क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने के लिये कोई ऐसी कृषि-योजना प्रस्तावित करना राष्ट्र एवं समाज के प्रति विश्वासघात होगा; जिसके द्वारा समस्याएँ सुलझने के स्थान पर अधिक उलझ जायँ, इसलिये बड़ी सावधानी के साथ कृषि-क्षेत्र में सहकारिता के प्रयोग करने हैं।

कृषि-कार्य के लिये निम्नलिखित साधनों की जरूरत पड़ती है :—

१. भूमि, २. श्रमिक, ३. पशु, ४. कृषि-यंत्र, ५. खाद एवं बीज, ६. सिंचाई-व्यवस्था, ७. कृषि प्रत्यय, तथा ८. यातायात।

भारतवर्ष में कृषि-भूमि से सम्बन्धित जो समस्याएँ आज उपस्थित हैं, उनमें सबसे अधिक महत्वशील समस्या इस बात की है कि कृषि-भूमि को किस पद्धति से कृषि-उत्पादन-कार्य में लगाया जाय, जिससे कि उससे अधिकतम उपज प्राप्त हो सके। विभिन्न देशों में जो कृषि-प्रणालियां प्रचलित हैं, वे निम्नलिखित ढङ्ग से पाँच वर्गों में क्रमबद्ध की जा सकती हैं :—

(१) व्यक्तिगत कृषि-प्रणाली (Individual farming)
(२) संयुक्त कृषि-प्रणाली (Joint Tenancy farming)
(३) निबन्धित कृषि-प्रणाली (Incorporate farming)
(४) सामूहिक कृषि-प्रणाली (Collective farming)
(५) राजकीय कृषि-प्रणाली (State farming)

मेरे विचार में सहकारी कृषि-प्रणाली इन पांचों प्रणालियों से भिन्न कोई अन्य प्रणाली नहीं है। जिन लेखकों ने सहकारी कृषि-प्रणाली का वर्णन किया है, वास्तव में उन्होंने "सहकारी" शब्द का दुरुपयोग किया है, क्योंकि इन पांचों उपर्युक्त कृषि-प्रणालियों के अन्तर्गत सहकारिता सिद्धान्त के प्रयोग किये जाने का अवसर प्राप्त होता है। इसलिये प्रत्येक कृषि-प्रणाली को सहकारी कृषि-व्यवस्था कह सकते हैं, यदि उस व्यवस्था में व्यक्तिगत स्वार्थों को त्यागकर जन-कल्याण की भावना से उत्पादन किया जाय।

इन पांचों उपर्युक्त प्रणालियों का क्रमानुसार वर्णन आगे प्रस्तुत किया गया है तथा यह दर्शाया गया है कि प्रत्येक प्रणाली के अन्तर्गत सहकारी सिद्धान्तों को कहां तक प्रयोग में लाने का अवसर है और उनके गुण-दोषों का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इन तथ्यों के आधार पर पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि कहां तक सहकारी कृषि-प्रणाली कोई नयी प्रणाली नहीं है और जैसा मैंने ऊपर स्पष्ट किया, प्रत्येक उक्त कृषि-प्रणाली में सहकारिता के सिद्धान्तों को विभिन्न अंशों में प्रयोग किया जा सकता है। जिस प्रणाली के अन्तर्गत हम सबसे अधिक सहकारिता के सिद्धान्तों का क्रियात्मक सफल प्रयोग कर पाते हैं, उस प्रणाली को यदि हम सहकारी कृषि-प्रणाली की संज्ञा दें, तो सम्भवतः एक निश्चित सीमा तक वह स्वीकार की जा सकती है।

सहकारी कृषि-प्रणाली की तीन परिभाषाएँ यहां प्रस्तुत की जा रही हैं—प्रथम परिभाषा कृषि अनुसंधान सम्बन्धी राष्ट्रीय परिषद् के परामर्शदातागण की दी हुई है—"प्रत्येक कृषक भूमि में अपने सब अधिकार पूर्ववत् रखता है, किन्तु कृषि-कार्य संयुक्त रूप से किया जाता है। कृषि-उत्पादन-व्यय एक सामान्य कोष में से किया जाता है और फसल प्राप्त होने पर इस व्यय की पूर्ति कर लेने के उपरांत तथा राजकीय कृषि कर आदि चुकाने के बाद जो कुछ बचता है वह सब कृषक आपस में बांट लेते हैं।" एक दूसरी परिभाषा उत्तरप्रदेश के वासी श्री त्रिलोकसिंह ने अपनी पुस्तक "पावर्टी एण्ड सोशल चेंज" (गरीबी और सामाजिक परिवर्तन) में दी है। यह परिभाषा इस प्रकार है—"सहकारी कृषि-प्रणाली के अन्तर्गत एक गुण यह होता है कि प्रत्येक छोटी-छोटी जोतवाले किसान मिलकर बड़ी इकाइयां बना

लेते हैं। किसान का भूमि पर अधिकार पूर्ववत् रहता है।" इस विज्ञ लेखक ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि कृषक को एक बड़ी इकाई बनाने के लिये, भूमि दे देने के उपरांत उस भूमि को किसी भी समय वापस लेने का अधिकार रहता है अथवा नहीं। यदि यह अधिकार उसे नहीं रहता है, तो लेखक का यह दावा कि कृषक के अधिकार भूमि में पूर्ववत् रहते हैं, असत्य है और यदि यह अधिकार रहता है, तो उस बड़ी इकाई से कोई लाभ नहीं, जो कि वर्ष की किसी भी फसल के बाद, एक साधारण अशिक्षित कृषक के इशारे पर कभी भी छिन्न-भिन्न हो सकती है। ऐसी इकाई को जोतने के लिये हजारों रुपयों के कृषि-यन्त्र उपलब्ध करना कहाँ तक बुद्धिमानी का काम होगा, क्योंकि पता नहीं कि किस फसल के उपरांत वह इकाई पुनः छिन्न-भिन्न हो जाय। तीसरी परिभाषा श्री के. सी. रामकृष्णन द्वारा दी गई है, जो कि इस प्रकार है—"सहकारी कृषि-प्रणाली स्वेच्छित रहती है। इसका नियन्त्रण प्रजातांत्रिक होता है। इस परिभाषा में लेखक ने कृषक की स्वेच्छा तथा प्रजातांत्रिक नियन्त्रण पर अधिक जोर दिया है।

इन तीनों परिभाषाओं के मूल तत्त्वों को संक्षेप में इस प्रकार क्रमबद्ध कर सकते हैं:—

१. कृषक स्वेच्छा से अपनी भूमियाँ कृषि-कार्य के लिये सम्मिलित कर लेते हैं।

२. इस संग्रहित इकाई की प्रजातांत्रिक नियन्त्रण-व्यवस्था रहती है।

३. कृषकों के भूमि सम्बन्धी अधिकार पूर्ववत् रहते हैं।

"कोआपरेटिव एट वर्क" नामक ग्रन्थ के रचयिता श्री हैड्रिक एफ. इनफील्ड तथा सर डेनियल हाल ने कहा है कि "सहकारी—कृषि से उत्पादन बढ़ता है तथा ग्रामीण क्षेत्रों की जनता का जीवन-स्तर ऊँचा होता है, परन्तु ध्यान रखिये, सहकारी-कृषि स्वयं कोई प्रणाली नहीं है।" पांचों उपर्युक्त कृषि-प्रणालियों में सहकारिता का समावेश पाते हैं। केवल अन्तर इतना ही है कि सब प्रणालियों में वह समान अंशों में नहीं प्राप्य है। प्रत्येक कृषि-प्रणाली को, सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुसार संचालित किया जा सकता है और उससे जन-कल्याण हो सकता है। प्रत्येक प्रणाली की कार्य-क्षमता उससे प्राप्त प्रतिफलों से जाँचनी चाहिये। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के आर्थिक इतिहासों के पृष्ठ उलटकर देखे जायँ, तो इस बात का प्रमाण मिलता है कि जब तक सहकारिता के सिद्धान्तों का अनुसरण व्यक्तिगत कृषि-प्रणाली में संयुक्त परिवार प्रणाली के रूप में अथवा सगोत्रीय या सजातीय कृषि-व्यवस्था के रूप में किया गया, वह प्रणाली भी बहुत संतोषप्रद प्रतिफल प्रदान करती रही। आज हम उसे चाहे कितना भी हीन क्यों न समझें, वह आज की सामुदायिक कृषि प्रणाली, जिसे आज के वैज्ञानिक एटम बम समझते हैं, प्रत्येक कृषि दोषों के निवारणार्थ निर्धारित कर देते हैं, इससे अधिक कार्य कुशल तथा लाभप्रद थी। अब प्रत्येक कृषि-प्रणाली का विस्तृत वर्णन दिया जा रहा है :—

(१) व्यक्तिगत कृषि-प्रणाली

इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक कृषक अपनी-अपनी जोत में खेती करता है। बहुधा उसके परिवार के व्यक्ति उसे खेती के कार्य में सहायता प्रदान करते हैं।

व्यक्तिगत कृषि-प्रणाली में सहकारिता के लिये क्षेत्र :— ऐसे क्षेत्रों में जहाँ व्यक्तिगत कृषि-प्रणाली परम्परागत बहुत काल से चली आ रही है, कृषकों की आर्थिक दशा सुधारने के लिये उत्तम कृषि बहु-प्रयोजन समितियां (better farming cooperative societies) स्थापित की जा सकती हैं

१. इन समितियों के अन्तर्गत व्यक्तिगत कृषकों के भूमि अधिकारों में कोई अन्तर नहीं आता। वे पूर्ववत् भूमि के स्वामी रहते हैं।

२. भूमि को एकत्रित करने की भी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

३. प्रत्येक कृषक अपने-अपने प्रयासों का पूर्ववत लाभ उठाता रहता है।

४. प्रत्येक कृषक की भूमि का उत्तराधिकार उसके परिवार के सदस्यों को पूर्ववत् ही प्राप्त होता रहता है।

उत्तम कृषि सहकारी समितियाँ, व्यक्तिगत कृषकों अथवा पारिवारिक कृषिकों तथा सजातीय कृषि-प्रणालियों में सफलता-पूर्वक कार्य करती हैं, वे बहुधा निम्नलिखित सुविधाएँ प्रदान करती हैं—

(१) कृषि करने के तरीकों में सुधार।

(२) खाद, बीज व उपकरण आदि मिलकर प्राप्त करना।

(३) कृषि-प्रणाली में नवीन वैज्ञानिक प्रयोगों के प्रभावों का कृषकों के बीच प्रचार करना।

(४) कृषकों को कम ब्याज की दर पर ऋण देना।

(५) विभिन्न कृषक मिलकर एक-दूसरे जमीन की जोताई एवं बोवाई करने के लिये प्रेरित किये जाते हैं।

(६) खेतों की देख-भाल, फसल को जानवरों और पक्षियों से बचाने आदि की सब व्यवस्था मिलकर की जाती है।

(७) सहायक धन्धे, जिनसे कृषकों की आय में अभिवृद्धि हो सकती है, प्रोत्साहित किये जाते हैं।

प्रत्येक कृषक जिन-जिन सेवाओं को सहकारी समिति से उपलब्ध करता है, उनके लिये उचित मूल्य तुरन्त देता रहता है। वर्ष के अन्त में ऐसी समितियाँ अपने नियमित सदस्यों को प्रोत्साहक लाभांश घोषित करती हैं।

नये क्षेत्रों में अथवा नवीन तोड़ भूमियों में सहकारिता का क्षेत्र:—नये देशों में, जहाँ भूमि बहुत काल से उपयोग में न लाई गई हो और जहाँ पर कुछ कृषक परिवार बसाये जायें, तो उन कृषकों को व्यक्तिगत कृषि के लिये भूमि-खण्ड यद्यपि अलग-अलग दिये जाते हैं, किन्तु उनके बीच भी सहकारिता का बीजारोपण काश्तकारी सहकारी कृषि समिति के रूप में किया जा सकता है। इस प्रकार की सहकारी कृषि समितियों का उपयोग पुराने देशों में भी नयी तोड़ भूमियों में कृषि व्यवस्था के लिए अपनायी जा सकती है।

काश्तकारी सहकारी कृषि समितियों की विशेषताएँ:—

१. भूमि में व्यक्तिगत काश्तकारी अधिकार कृषकों को दे दिये जाते हैं।

२. प्रत्येक कृषक की जोत उपयुक्त आकार की होती है, जो कि उसके परिवार के लिये आर्थिक दृष्टिकोण से पर्याप्त उपज दे सकती है।

३. प्रत्येक व्यक्ति समिति द्वारा निर्धारित कृषि-योजनानुसार कृषि-कार्य करने के लिये स्वतंत्र रहता है।

४. समिति इन सदस्यों को निम्नलिखित सुविधा प्रदान करती है :—

(अ) प्रत्यय उपलब्ध करना।

(ब) खाद, बीज एवं कृषि-यन्त्र उपलब्ध करना।

(स) उपज के लिये विपणन् की व्यवस्था करना।

५. प्रत्येक कृषक से सहकारी समिति काश्तकारी अधिकारों के कारण लगान वसूल करती है और सरकारी भूमि-कर सब सदस्यों की ओर से चुका देती है। बीज, खाद, उपकरण आदि के विक्रय से समिति को यदि कुछ लाभ हो जाता है, तो उसे कृषक सदस्यों में, लगान के आधार पर विभाजित कर दिया जाता है।

(२) संयुक्त कृषि-प्रणाली या नम्बरदारी खेती-व्यवस्था

बहुत-से स्थानों में खेती की पूरी इकाई अर्थात् सम्पूर्ण गाँव किसी एक जाति के व्यक्तियों को संयुक्त रूप से कृषि करने के लिये दे दिया जाता है। प्रत्येक परिवार की भूमि का क्षेत्रफल वंश परम्परागत पूर्व निर्धारित चला आता है, लेकिन गाँव की सारी जमीन छोटे-छोटे खण्डों में नहीं बाँटी जाती, बल्कि समानान्तर पट्टियों में बाँटी जाती है। प्रत्येक पट्टी का एक नम्बरदार होता है, जो कि सरकारी लगान चुकाने के लिये उत्तरदायी है। उसकी पट्टी में उसके खानदान के अनेकों परिवार भ्रातृभाव के साथ कृषि-कार्य करते रहते हैं। नम्बरदारी-व्यवस्था वाले बहुत-से गांव आज भी उत्तरी भारत में पाये जाते हैं।

संयुक्त कृषि-प्रणाली, छोटे-छोटे कृषकों की स्वेच्छा से, जिस किसी किसान का खेत एक-दूसरे के पास हो, मिलाकर भी

बनाई जा सकती है। प्रत्येक किसान की कृषि-भूमि का क्षेत्रफल और उसकी किस्म, उपज के वितरण का आधार बनती है। इस प्रकार से संग्रहित किये गए बड़े-बड़े खेतों में यन्त्रों की सहायता से कृषि की जा सकती है। संयुक्त कृषि-प्रणाली के लिये संयुक्त सहकारी कृषि समितियाँ स्थापित की जा सकती हैं। इन समितियों के अन्तर्गत कृषकों को निम्नलिखित सुविधाएँ प्राप्त होती हैं :—

(१) प्रत्येक प्रकार के कृषि-यन्त्र, जिनके द्वारा प्रत्येक प्रकार की जमीन को तोड़कर गहरी जोताई की जा सकती है।

(२) उत्तम प्रकार के बीज, रासायनिक खाद तथा विशेषज्ञों का समय-समय पर सदुपरामर्श प्रदान करने की भी सुविधा दी जाती है।

(३) भूमि-लगान आदि कृषकों की ओर से सहकारी समिति ही दे देती है।

(४) गांव के भूमि-विहीन किसानों को भी कृषि कार्यों में समय-समय पर कार्य मिलता रहता है, जिसके लिये उपयुक्त भृत्तियाँ प्रदान की जाती हैं।

(५) काश्तकारों को, जितना श्रम वे प्रदान करते हैं उसके लिये रोक भृतियां दी जाती हैं और फसल के अन्त में ६ माह के लिये पर्याप्त अन्न प्रदान किया जाता है।

(६) इसके अतिरिक्त जो उपज बचती है, उसे समिति विक्रय कर लेती है। वह समिति का लाभ होता है। किसी-किसी संयुक्त कृषि सहकारी समिति में लाभ के वितरण का एक दूसरा तरीका भी अपनाया जाता है। सम्पूर्ण उपज को, जो कि रोक-

भृत्तियां शोधन करने के उपरांत बचती है, उसके अनुपात में अथवा उस भूमि के मूल्यांकन के अनुपात में विभाजित कर दिया जाता है।

यदि इस समिति ने कोई कर्ज ले रखा है अथवा सार्वजनिक निक्षेप प्राप्त कर रखे हैं, तो उस पर ब्याज और गत वर्षों की हानियाँ तथा सयंत्र आदि का अवक्षयण और सरकारी भूमि लगान तथा अतिरिक्त कर, लाभ-वितरण करने से पूर्व चुका दिये जाते हैं। लाभ का पाव हिस्सा संचिति की ओर प्रांत वर्ष स्थानान्तरित किया जाता है। यदि इस समिति की कुछ अंश पूंजी होती है, तो उस अंश पर ६½ प्रतिशत का लाभांश, प्रदत्त पूंजी पर प्रदान कर दिया जाता है। घनी आबादीवाले पुराने क्षेत्रों में, जहाँ प्रत्येक किसान के पास भूमि के टुकड़े उसकी जोत में इतने छोटे क्षेत्र में हो जाते हैं कि उन पर खेती करने के लिये कृषि साज एवं बैल आदि का खर्च कृषकों के लिये अनार्थिक सिद्ध होने लगता है, तो उन क्षेत्रों में ऐसी छोटी-छोटी जोतवाले किसानों की भूमियों को संयुक्त करने के लिये यदि थोड़ा दबाव भी डालना पड़े, तो अनुचित न होगा। प्रारम्भ में कृषक कृषि-क्षेत्र में सहकारिता के प्रयोगों से अनभिज्ञ होने के कारण हिचकिचाते हैं और स्वेच्छा से संयुक्त कृषि के लिये कृषियां नहीं बनाते, इसलिये सिद्धांत विषयक ज्ञान और थोड़ा सरकारी दबाव, दोनों ही प्रारम्भ में जरूरी हैं।

इन समितियों से निम्नलिखित लाभ प्राप्त होते हैं :—

१. भूमि-खण्डन रुक जाता है।

२. कृषि-प्रणाली में सुधार होता है। यंत्रों द्वारा खेती की जा सकती है।

३. सदस्यों की भूमि के अतिरिक्त नयी भूमियां भी तोड़ ली जाती हैं और कृषि-योग्य बना ली जाती हैं।

४. आवश्यक कृषि-अर्थ-व्यवस्था एक व्यक्ति की अपेक्षा समिति द्वारा ज्यादा अच्छी तरह कर ली जाती है।

५. सदस्यों को कृषि विशेषज्ञों का परामर्श उपलब्ध करने में भी सुविधा रहती है।

६. सदस्यों में रुपया बचाने की आदत डाली जाती है, जिससे परिवार की आर्थिक दशा भविष्य में अनिश्चित और दयनीय नहीं होने पाती।

(३) निबंधित कृषि-प्रणाली

इस प्रणाली के अन्तर्गत काफी धनराशि से कृषि-कार्य के लिये संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल निबंधित कराया जाता है। बहुधा इस प्रकार का प्रमण्डल कुछ धनवान् व्यक्ति प्रारम्भ करते हैं। यह प्रमण्डल किसानों की बहुत-सी जमीनें उनसे व्यक्तिगत सौदे करके प्राप्त कर लेता है। उन कृषकों को रुपया चुकाकर जमीन में उनके अधिकार समाप्त कर दिये जाते हैं और वे सब अधिकार प्रमण्डल को प्राप्त हो जाते हैं। इन प्रमण्डलों के पास अर्थ-बल पर्याप्त होता है, जिसके आधार पर बड़े-बड़े फार्मों पर नवीन कृषि-यंत्रों की सहायता से तथा वैज्ञानिक ढंग से खेती की जाती है। इस ढंग की खेती में सहकारिता का कोई स्थान नहीं है; जबकि उन किसानों को, जिनकी भूमियां प्रमण्डल द्वारा खरीदी जा रही हैं, उस प्रमण्डल में अंश भाग प्रदान नहीं किये जाते। उस प्रकार के अंश सम्भवतः किसी भी निबंधित कृषि प्रमण्डल ने शायद ही अभी तक अपनाये हों। बहुधा देखने में यह आता है कि

कृषकों के सब अधिकार प्रमण्डल आकर्षक मूल्य देकर हमेशा के लिये खरीद लेता है और वे कृषक कुछ इने-गिने पूंजीपतियों के हाथ जीविकोपार्जन के लिये शोषित किये जाते हैं। समाज में वर्ग-व्यवस्था को अभिवृद्धि मिलती है। धन के असंतुलित वितरण, पारस्परिक विषमता आदि से बुराइयाँ दिनोंदिन समाज में बढ़ती जाती हैं, जिनसे समाज की शांति तक खतरे में हो जाती है। इस प्रकार के कृषि प्रमण्डल बहुधा पूंजीवादी देशों में ही हितकर हैं। जहाँ पर समाज के औद्योगिक क्षेत्र में काफी दिनों से वर्ग-भेद-व्यवस्था पूंजीपति और श्रमिक के रूप में चली आ रही है, जिससे वहां के लोग बहुत कुछ अभ्यस्त हो चुके हैं और जिस व्यवस्था की बुराइयों को कम करने के तरीके भी इन लोगों ने ट्रेड यूनियन्स (trade unions) और राजनैतिक श्रम दल (political labour parties) के रूप में अपना लिये हैं; ऐसे ही देशों में औद्योगिक क्षेत्रोंवाली संयुक्त स्कन्ध व्यवस्था कृषि-क्षेत्र में भी सफलतापूर्वक बड़े-बड़े फार्मों के संचालन करने में अपनायी जाती है। यह प्रणाली अधिक घनी आबादीवाले गरीब और जहां जनता अधिकतर अशिक्षित हो इन देशों के लिये अनुपयुक्त है, क्योंकि इससे भूमिविहीन श्रमिकों की संख्या दिनोंदिन बढ़ेगी, जो अपने जीवन-निर्वाह के लिये स्थान-स्थान पर भटकती फिरेगी और पूंजीपति एक बार अपने मजबूत गढ़ स्थापित कर लेने के बाद कृषि-प्रणाली को वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार लाने के बहाने, श्रमजीवि श्रमिकों को प्रतिस्थापित कर देंगे।

(४) सामूहिक कृषि-प्रणाली

इस कृषि-प्रणाली के अन्तर्गत भूमि सामूहिक रूप से इस क्षेत्र में बसनेवाले, सभी कृषकों के समान्य हित में जोती-

बोई जाती है। इस प्रणाली के अन्तर्गत निम्नलिखित लक्षण पाये जाते हैं :—

१. भूमि में किसी भी व्यक्ति का व्यक्तिगत अधिकार नहीं होता, किन्तु उस क्षेत्र में बसनेवाले सभी कृषकों का सामूहिक अधिकार उस भूमि पर रहता है।

२. उत्पादन के सभी साधन सामूहिक रूप से सदस्यों के आधिपत्य में होते हैं और वे सब मिलकर खेती करते हैं। किसी भी व्यक्ति को भूमि सामूहिक कृषि लिये न देने की स्वेच्छा नहीं रहती। सभीको अनिवार्य रूप से सामूहिक कृषि-योजना में सम्मिलित होना पड़ता है। सदस्य सामूहिक कृषि-योजना के लिये, सरकार द्वारा कानून का दबाव डालकर, बाध्य किये जाते हैं।

उत्पादन की वृद्धि के लिये सामूहिक कृषि प्रणाली से प्राप्त प्रतिफल, रूस और जेकोस्लोवाकिया आदि देशों में जहां अनिवार्य रूप से इस प्रणाली को अपनाया गया है, अच्छे रहे हैं; इसलिये इस कृषि-प्रणाली को भारत में अपनाने के लिये बहुत से विद्वान लेखकों ने सिफारिश की है। इस प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक क्षेत्र में सहकारिता के सिद्धांतों का अनुसरण किया जाता है, बल्कि यह कहा जाय कि आवश्यकता से अधिक किया जाता है, तो अधिक सत्य रहेगा। इस कृषि-प्रणाली में जो सबसे भयानक दोष प्रारम्भ में ही दिखलाई पड़ता है, वह यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अनिवार्य रूप से सामूहिक कृषि के लिये बाध्य किया जाता है। इस बात में सहकारिता के सिद्धांतों की अवहेलना स्पष्ट झलकती है। इसके अतिरिक्त भारत जैसे पुराने देश में, जहां हजारों वर्षों से स्थायी सम्पत्ति

में व्यक्तिगत अधिकार चले आ रहे हैं, उन्हें अचानक कानून का आश्रय लेकर समाप्त कर देने की शक्ति न तो वर्तमान भारत सरकार में ही है और न जन-साधारण ही इस ओर आकृष्ट है।

(५) राजकीय कृषि-प्रणाली

जिन देशों में राज्य सरकार भूमि का राष्ट्रीयकरण करके खेती की व्यवस्था स्वयं करती है वह 'राजकीय कृषिप्रणाली' कहलाती है। भूमि पर सरकार का पूर्ण अधिकार रहता है। कृषक वर्ग सरकारी फार्मों में सरकारी कर्मचारी के रूप में काम करते हैं और मासिक वेतन पाते हैं। सम्पूर्ण कृषि-भूमि में इस प्रकार की व्यवस्था करना किसी भी राज्य सरकार के लिये असम्भव है, क्योंकि भोजन-व्यवस्था व्यक्तिगत रुचि और सामर्थ्य पर निर्भर रहती है। सरकार द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने का प्रयास उन्हें एक जटिल समस्या उपस्थित कर देगा। इसलिये किसी भी राज्य सरकार ने देश की सम्पूर्ण भूमि पर सरकारी कृषि-व्यवस्था नहीं कर रखी है। किन्तु, प्रत्येक ऐसे देश में, जहां खेती व्यक्तिगत कृषकों द्वारा की जाती है और व्यक्तिगत कृषकों की दशा शोचनीय है, वहां सरकार निर्देशित फार्म स्थान-स्थान पर संचालित करती है, जिससे कृषकों को उत्तम कृषि-व्यवस्था के लिये प्रेरणा प्राप्त होती है।

इस प्रणाली के अन्तर्गत सहकारिता के लिये निम्नलिखित स्थान उपलब्ध हैं :—

१. कृषकों को उत्तम बीज उचित मूल्य पर सहकारी फार्म से प्राप्त होता है।

२. उत्तम नस्ल के सांड सहकारी फार्मों में पाले जाते हैं, जिनसे पशु-नस्ल सुधारी जाती है।

३. कृषि-विशेषज्ञ, जो समय-समय पर फार्म निरीक्षण के लिये आते रहते हैं, ग्रामीणों को भाषण, फिल्म आदि के द्वारा कृषि के उत्तम ढंग बतलाते हैं।

४. कृषकों को व्यावहारिक कृषि-ज्ञान प्राप्त करने के लिये अल्पकालीन प्रशिक्षण की व्यवस्था रहती है।

इस कृषि-प्रणाली के अन्तर्गत किसी भी देश में सम्पूर्ण भूमि को सरकार ने अपने हस्तगत नहीं किया है। औद्योगिक क्षेत्र में यद्यपि विभिन्न राष्ट्रीय महत्व के उद्योगों को कुछ देशों की सरकारों ने हस्तगत कर लिया है और उनको राष्ट्रीयकरण कर लेने के उपरांत राष्ट्रहित में संचालित किया जाता है, किन्तु एक भी ऐसा देश नहीं है, जहां कृषि का राष्ट्रीयकरण किया गया हो। कुछ लोगों का ऐसा ख्याल है कि साम्यवादी देशों में कृषि का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया है, लेकिन उन देशों में जो कृषि-प्रणाली अपनायी गई है, वह सामुदायिक कृषि-प्रणाली (collective farming) के अन्तर्गत आती है। कृषि-भूमि के राष्ट्रीयकरण में निम्नलिखित कठिनाइयां बाधक हैं :—

१. देश में जो उत्तराधिकार की प्रणाली वंश परम्परा-गत चली आ रही है, उसे अचानक समाप्त करने का साहस कोई सरकार नहीं करती, क्योंकि जन-साधारण के विद्रोह का भय रहता है।

२. किसी भी सरकार को कृषि-कार्यों के लिये अतुल धनराशि जुटाना दुर्लभ है।

३. किसी भी सरकार के पास, वे अन्य साधन नहीं हैं जिनकी आवश्यकता सामान्यतया कृषि-उत्पादन में पड़ती है।

४. कृषि-कार्य इतना अनिश्चित होता है कि फसल में लगाया हुआ सब रुपया अधिक वर्षा अथवा वर्षा की कमी के कारण डूब सकता है, ऐसी दशा में सरकार को सैकड़ों रुपये का नुकसान उठाना पड़ सकता है, जिसके लिये कोई भी सरकार तैयार न होगी।

इन्हीं सब कारणों से कृषि का राष्ट्रीयकरण सर्वांगीण रूप से किसी भी देश में नहीं किया गया है। आंशिक रूप में जैसा कि उपर्युक्त वर्णन में दिया गया है, प्रदर्शन क्षेत्र (demonstrative farms) स्थापित करके सरकारी कृषि की जाती है।

भारतवर्ष के लिये सर्वोत्तम कृषि प्रणाली

भारतवर्ष के लिये कौन-सी कृषि-प्रणाली सर्वोत्तम होगी, यह विवादग्रस्त प्रश्न है और विभिन्न लेखकों ने समय-समय पर जो विचार प्रगट किये हैं, उनको भी ध्यान में रखते हुए कोई सुझाव सोचना होगा, इसलिये सर्वप्रथम कुछ प्रमुख लेखकों के विचार उद्धृत किये जा रहे हैं।

अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस की नियुक्त—कृषि सुधार समिति

कृषि सुधार समिति के अध्यक्ष श्री जे. सी. कुमारप्पा ने जुलाई सन् १९४९ में वृत्त लेख में संयुक्त सहकारी कृषि प्रणाली को प्रस्तावित किया है, किन्तु प्रो० रंगा और रामास्वामी रेड्डियर ने भिन्न मत प्रकट किये हैं। इनके अनुसार प्रत्येक कृषक के पास

आर्थिक जोत होनी चाहिये। आर्थिक जोत का उन्होंने कोई क्षेत्रफल निर्धारित नहीं किया है, किन्तु प्रत्येक क्षेत्र के लिये आर्थिक जोत निर्धारित करने के लिये चार नियम निश्चित किये हैं :—

१. उस जोत से कृषक को उचित रहन-सहन का स्तर मिल सके।

२. प्रत्येक एकड़ भूमि से प्रत्येक व्यक्ति पीछे अधिकतम उपज प्राप्त हो सके अर्थात् किसी भी व्यक्ति के पास उसकी सामर्थ्य से अधिक जोत न रहे।

३. औसत आकार का परिवार पूर्ण रूप से सेवायुक्त रह सके।

४. प्रत्येक क्षेत्र की अद्भुत परिस्थितियों को ध्यान में रखकर आर्थिक जोत निश्चित की जाय।

समिति के विचार में हल के स्थान पर ट्रेक्टरों के प्रयोग की सम्भावना भी निकट भविष्य में विचाराधीन थी, इसलिये उन्होंने आर्थिक जोत का कोई क्षेत्रफल निश्चित नहीं किया। जहां तक कृषि में सहकारिता के अवसर का प्रश्न उनके सम्मुख आया, उन्होंने सहकारिता समितियों द्वारा कृषकों को कृषि-विकास में मदद करने की अनुमति प्रदान की है। सहकारिता समिति द्वारा वास्तव में कृषि करना उनके विचार में उचित नहीं है, क्योंकि उनका ऐसा ख्याल है कि जब गांवों में बहु-प्रयोजन समितियां होंगी, जो कि कृषकों को कम ब्याज पर रुपया उधार देंगी, खाद, बीज और यहां तक कि उत्तम नस्ल के बैल आदि भी उपलब्ध करेंगी, तो सहकारिता समिति द्वारा कृषि करने की कोई जरूरत नहीं है। इसलिये व्यक्तिगत कृषि-

प्रणाली ही अपनाने के लिये जोर दिया है, लेकिन प्रत्येक कृषक के पास आर्थिक जोत के योग्य क्षेत्रफल होना चाहिये। यदि सहकारी समितियां स्थापित ही करना हैं, तो उत्तम सहकारी कृषि समितियां, जिनका वर्णन हम इससे पूर्व व्यक्तिगत कृषि-प्रणाली के अन्तर्गत कर चुके हैं, प्रोत्साहित की जायें। उनके स्थापित करने से पूर्व कम से कम उस क्षेत्र के ७५ प्रतिशत कृषक इसके पक्ष में मत दें।

देश की विभिन्न राज्य इकाइयों में आजकल इतने विभिन्न प्रकार के काश्तकार हैं, कि सबके लिये वास्तव में समान सहकारी कृषि समिति बना सकना और उनके अधिकारों को पूर्ववत् कायम किये रखना बिल्कुल असम्भव है। इसलिये भूमि में, कृषिकर्ता को पहले अधिकार प्रदान करना पड़ेगा, तब कहीं जाकर उसे सहकारी कृषि समिति निर्माण करने के लिये प्रेरित किया जा सकता है। मध्यस्थों को एक बार पूर्णतया समाप्त कर देना पड़ेगा।

कृषि नीति समिति (मध्यप्रदेश)

कृषि नीति समिति ने सन् १९५१ में मध्यप्रदेश सरकार को कृषि-नीति-विषयक जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया है, उसमें उन्होंने संयुक्त कृषि-प्रणाली या सामुदायिक कृषि-प्रणाली अपनाने की सिफारिश की है। कमेटी ने इन दोनों प्रणालियों में सहकारियों द्वारा यथास्थान परिवर्तन करने का भी अवसर प्रदान किया है। संयुक्त कृषि-प्रणाली के अन्तर्गत जो सहकारी कृषि का क्षेत्र प्राप्त है, उसमें समिति के विचार में भूमिविहीन कृषकों के लिये कोई स्थान नहीं है; इसलिये उन्होंने सामुदायिक कृषि-प्रणाली की भी सिफारिश की है, क्योंकि भूमिविहीन कृषकों को समिति

का सदस्य बना लेने से भूमिधारी कृषकों और भूमिविहीन कृषकों दोनों ही को पारस्परिक लाभ होगा। इस समिति की राय में एक गांव के लिये एक ही समिति होनी चाहिये। समिति को अपनी निजी अर्थ-व्यवस्था बनानी चाहिये; सरकारी ऋण पर ही अवलम्बित नहीं रहना चाहिये।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ग्राम व्यवस्था:—पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ग्राम की जो नई योजना संयोजना आयोग ने प्रस्तुत की है, वह भी कृषि के लिये एक नया प्रयोग होगी। संयोजना आयोग की ग्राम-व्यवस्था-योजना के निम्नलिखित मुख्य-मुख्य लक्षण, प्रस्तावित किये हैं :—

१. कृषकों के भूमि अधिकार मान्य समझे जायं और इसके बदले में प्रत्येक कृषक को हर फसल पर स्वामित्व लाभांश दिया जाय।

२. एक गांव की सम्पूर्ण भूमि व्यवस्था की एक इकाई समझी जाय।

३. गांव की सम्पूर्ण भूमि की कृषि-व्यवस्था गांव के सम्पूर्ण समाज के अधिकतम हित में की जाय।

४. भूमि की व्यवस्था और गाँव के साधन इस ढंग से संगठित किये जायँ कि अधिकतम सेवावृत्ति मिल सके।

५. प्रत्येक व्यक्ति को उसके कार्य के लिये, कार्य की प्रकृति के अनुसार, उचित भृत्ति मिलेगी। जिन कृषकों ने अपनी भूमि रखी है, उनको स्वामित्व लाभांश अतिरिक्त मिलेगा।

६. कृषि की सुविधा के लिये तमाम जमीन को सुविधा-जनक खण्डों में बांट दिया जाय, जो कि व्यक्तिगत परिवार को अथवा परिवारों के समूह को खेती करने के लिये दे दिये जांय।

इन खण्डों को किस शर्त पर कृषि-कार्य के लिये दिया जाय, ग्राम प्रबन्ध समिति निश्चित करेगी। प्रत्येक खण्ड से उत्पादन अधिकतम मिलना चाहिये।

७. ग्राम-प्रबन्ध-व्यवस्था उन ग्रामों में प्रारम्भ कर दी जाय, जहाँ दो-तिहाई भूपति या स्थायी काश्तकार, जिनके पास गांव की कम से कम आधी भूमि अधिकार में हो और जो इसके पक्ष में हों; ऐसे गांव के सम्पूर्ण क्षेत्र के लिये यह योजना प्रचलित की जा सकती है।

८. प्रत्येक राज्य सरकार को अपने-अपने राज्य में सहकारी ग्राम-पंचायत-योजना कार्यान्वित करने के लिये उपयुक्त अधिनियम स्वीकार कर लेने चाहिये।

लेखक के व्यक्तिगत सुझाव :— मेरे विचार में, देश के विधान की धारा ३१ के अन्तर्गत निर्धारित क्षतिपूरक आदेशों को ध्यान में रखते हुए निम्नलिखित कृषि-योजना अपनायी जा सकती है।

१. प्रत्येक ग्राम के लिये एक सर्व-प्रयोजन सहकारी समिति स्थापित की जाय, जिसमें गांव के सभी वयस्क तथा विधवा स्त्रियां समान सदस्यता ग्रहण करें।

२. गांव की सारी जमीन का उसकी उर्वरा शक्ति के आधार पर मूल्यांकन कर लिया जाय।

३. प्रत्येक स्थायीकाश्तकार को, उसकी भूमि का जो मूल्यांकन किया गया है, उतनी धनराशि के सामान्य अंश प्रदान कर दिये जायँ। इस प्रकार अचल भूमि में उसका जो व्यक्तिगत अधिकार है, वह चल एवं स्थानान्तरण-योग्य अंशों में परिणित हो जायेगा।

४. इन अंशों को कृषक सुविधानुसार आपस में एक-दूसरे को विक्रय कर सकते हैं।

५. गांव के सभी वयस्क अपनी-अपनी योग्यतानुसार जो जिस कार्य में कुशल हो, योग दे सकते हैं। इसके लिये उन्हें फसल कटने पर उचित पारिश्रमिक, अन्न एवं चारे के रूप में दिया जायेगा।

६. सरकारी भूमि कर, दैनिक व्यय, कृषि व्यय, सयंत्र आदि की क्षति तथा उधार आदि ली हुई धनराशियों का ब्याज आदि चुकाने के बाद समिति के पास जो उपज बचे, उसको विक्रय करके कुछ राशि संचिति कोष को स्थानान्तरित करने के उपरांत, शेष अंशधारियों में लाभांश के रूप में वितरित कर दिया जाय।

७. प्रत्येक गांव की भूमि को ८,१६, २४ या ३२ उप-खण्डों में इस तरह बांट दिया जाय कि प्रत्येक खण्ड का क्षेत्रफल १०० एकड़ से अधिक न हो।

८. इन खण्डों की उचित कृषि-व्यवस्था करने के लिये कृषि समितियां गांव के कृषकों में से, एक व्यक्ति एक मत के आधार पर, चुन दिये जायँ। इन समितियों का चुनाव प्रतिवर्ष होना चाहिये।

९. प्रारम्भ में कृषकों के हल, बैल एवं गाड़ियाँ भी भूमि के मूल्यांकन करते समय समिति द्वारा उचित मूल्य पर ले लिये जायँ। धीरे-धीरे कुछ काल उपरांत हल, बैल द्वारा खेती के साथ-साथ सयंत्रों का भी उपयोग बढ़ाया जाय। कमजोर पशुओं को कृषि-कार्य से अलग कर दिया जाय।

लेखक ने इस योजना का शीर्षक *"ग्राम सहकारी कृषि-व्यवस्था"* रखा है। इसके अन्तर्गत भूमि एवं साधनों का मूल्यांकन करके कृषकों को क्षति-पूर्ति अंशों के रूप में देने की व्यवस्था की है, क्योंकि जब तक भारतवर्ष से वर्तमान विधान की धारा ३१ में संशोधन नहीं किया जाता, तब तक क्षति-पूर्ति प्रत्येक अचल एवं चल सम्पत्ति के अधिकारों के लिये देना आवश्यक रहता है। स्थानान्तरण हो सकने वाले सामान्य अंश उचित क्षति-पूर्ति के साधन बनाये जा सकते हैं। ग्राम के सम्पूर्ण वयस्क चाहे वे भूमिहीन श्रमिक ही क्यों न हों, इस व्यवस्था के अन्तर्गत यथोचित जीवन-यापन कर सकते हैं। भूमिधारी और भूमिविहीन कृषकों में कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता, केवल प्रथम वर्ग को एक निश्चित दर से स्वामित्व लाभांश अतिरिक्त मिलता है। इन सभी सुझावों से यह स्पष्ट हो जाता है कि समस्या वास्तव में जटिल है। उसका एक समान हल कहीं दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। सुधार की दिशा में कदम बहुत सँभालकर तथा दृढ़ता के साथ रखना है। कदम रखने के पूर्व, अनेक बार सोच लिया जावे, किन्तु निर्णय कर लेने के उपरांत प्रति पल उसमें इधरउधर उलटफेर करना और वास्तविक निर्णय से भिन्न कुछ और ही व्यवस्था कर बैठना, एक भारी भूल होगी।

जहां तक पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत प्रस्तावित ग्राम-प्रबन्ध-योजना की सफलता का प्रश्न है, वह सम्भवतः आनेवाले कम से कम १० वर्षों तक तो सफल नहीं हो सकती, क्योंकि कभी भी गांव में दो-तिहाई व्यक्ति, जिनके पास कम से कम ग्राम का आधा क्षेत्रफल कृषि अधिकारों में हो, सहर्ष इसके लिये तैयार नहीं हो सकते। विधान की धारा ३१ को वर्तमान स्वरूप में जब तक वे सहर्ष स्वीकार नहीं करते, तब तक बिना क्षति-पूर्ति दिये हुए उनके हितों में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकेगा। ऐसी

दशा में भारतवर्ष में कृषि के अन्तर्गत, सहकारिता के लिये निकट भविष्य में केवल उतना ही अवसर दृष्टिगोचर हो रहा है, जितना कि बहु-प्रयोजन समितियां, व्यक्तिगत कृषकों को प्रत्यय, उत्तम बीज, खाद सद्परामर्श तथा अच्छे पशु आदि क्रय करने के लिये ऋण आदि से सुविधाएं दे सकती हैं।

भूमि-सम्पन्न कृषक, बहुधा देखा गया है, सामूहिक कृषि-व्यवस्था तक के लिये प्रयोगात्मक रूप में भी तैयार नहीं होते। उनके हृदय में व्यक्तिगत भूमि-अधिकारों और वंश-परम्परागत उत्तराधिकार की समस्याएँ ऐसी गहरी जड़ कर गई हैं कि उनमें परिवर्तन होते-होते काफी समय लगेगा। इस वर्ष (१९५९) नागपूर अधिवेशन में कांग्रेस ने संयुक्त कृषि प्रणाली को भावी विकास का आधार स्वीकार कर लिया है और प्रधान मंत्री श्री नेहरू जी के मार्गदर्शन में, इसे सफल बनाने के लिये कटिबद्ध हैं।

: १४ :

औद्योगिक क्षेत्र में सहकारिता के प्रयोग

(Application of Co-operative Principles in Industrial Sector)

सहकारिता साधारण व्यक्तियों का त्राण है । गृह-उद्योगों एवं छोटे-छोटे प्रभावोत्पादक उद्योगों को सहायता पहुँचाने में इस आंदोलन की सामर्थ्य देखें। इसकी अनेकानेक प्रवृत्तियों का विभिन्न अध्यायों के अन्तर्गत जो उल्लेख किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि कृषि-क्षेत्र में जितनी भी वर्तमान बुराइयाँ हैं, उनका निवारण करने में सहकारिता सफलतापूर्वक योग दे सकती है। इस आंदोलन का औद्योगिक क्षेत्र में भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है, जितना कृषि-क्षेत्र में । यह बात दूसरी है कि अभी उस सीमा तक इसका प्रयोग उद्योग-क्षेत्र में, विशेषकर एशियायी देशों में, नहीं किया गया है।

औद्योगिक सहकारी समिति:—यह समिति औद्योगिक संगठन का वह स्वरूप है, जिसमें श्रमिक वर्ग स्वयं मिलकर किसी उपक्रम या निर्माणी को संचालित करते हैं और उत्पादित वस्तुओं को जन-साधारण एवं सदस्यों के लाभार्थ प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार की निर्माणियां श्रमिकों द्वारा संचालित एवं व्यवस्थापित की जाती हैं, इन पर श्रमिकों का ही स्वामित्व रहता है और उन्हें श्रमिकों और जन-साधारण के हित में संचालित

किया जाता है। सहकारिता के सामान्य सिद्धांतों का उद्योगों के संगठन करने में इस प्रकार से उपयोग किया जाता है कि उसके संगठनकर्त्ताओं को इस आंदोलन के आधार पर शक्ति एवं उत्साह प्राप्त हो। इस प्रकार की भावनाओं का प्रादुर्भाव औद्योगिक क्षेत्र में, जो आर्थिक विषमता एवं असंतुलन पाया जाता था, उसके कारण जन-जागृति के रूप में हुआ।

औद्योगिक क्रान्ति सन् १७६०:—इस क्रांति से पूर्व दुनिया के विभिन्न देशों में औद्योगिक उत्पादन का लघु-प्रभाप संगठन प्रचलित था, जिसमें कुछ थोड़े से श्रमिक अपने घर में ही रहकर अनेकानेक कलात्मक एवं जन-उपयोगी वस्तुएँ निर्माण करते रहते थे या १०–२० आदमी मिलकर किसी एक केन्द्र या कारखाने में सरल उपकरणों की सहायता से समाज में प्रयोग की जानेवाली अनेकानेक वस्तुएँ तैयार करते थे। औद्योगिक क्रांति ने, विशेषकर उन देशों में, जहाँ औद्योगिक क्रांति का तत्क्षण एवं प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा, लघु-उत्पादन को महानुमाप उत्पादन द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया। इससे उन कार्य-कुशल औद्योगिक कर्मचारियों को, जिन्हें विशाल सयंत्रों द्वारा उत्पादित सस्ती और समरूप वस्तुओं के समक्ष प्रतिस्पर्धा में व्यक्तिगत रूप से मुकाबला करते नहीं बन रहा था, ऐसे सहकारी संगठनों का आश्रय लेना पड़ा, जो कि पुनः औद्योगिक क्षेत्र में उनके कार्य के लिये उचित पारिश्रमिक तथा सेवावृत्ति (employment) दिला सकें। इसके अतिरिक्त उन अर्ध-विकसित देशों में, जहाँ विदेशी वृहत् उत्पादक निर्माणियों में निर्मित वस्तुओं की प्रतिस्पर्धा में अपने देश की कुशल कारीगरों द्वारा हस्त-निर्मित वस्तुओं के विक्रय करने में कठिनाइयां उपस्थित होती दृष्टिगोचर हो रही हैं, वहां भी औद्योगिक विपणन समितियों का आश्रय लिया गया है।

औद्योगिक समितियों के प्रकार

औद्योगिक समितियां बहुधा तीन वर्ग की होती हैं:—

१. उद्योग विकास समितियां (Industrial Development Societies)

२. सामुदायिक औद्योगिक उत्पादन समितियां (Collective Industrial Production Societies)

३. औद्योगिक नियन्त्रण एवं व्यवस्थापक समितियाँ (Industries Control & Regulation Societies)

(१) उद्योग विकास समितियां (Industrial Development Societies) :— विभिन्न गृह-उद्योगों में व्यस्त कार्य-कुशल श्रमिक, जो अपने घरों में अपने हस्त-कौशल के द्वारा विभिन्न वस्तुएँ निर्मित करते रहते हैं, उनके सामने आवश्यक प्रत्यय, अनिर्मित वस्तुओं की पूर्ति, आवश्यकीय यन्त्र एवं उपकरण आदि अनेकानेक वस्तुओं की आवश्यकता अनुभव करते हैं, उनकी ऐसी अनेकों समान समस्याएं होती हैं, जिनको वे व्यक्तिगत रूप से नहीं सुलझा पाते, लेकिन एक सहकारी समिति के द्वारा उन समस्याओं का समाधान करना बहुत सरल और सुगम हो जाता है। इस प्रकार की समितियाँ अपने सदस्य-कारीगरों को निम्नलिखित सुविधाएँ प्रदान करती हैं :—

१. प्रत्येक कारीगर सदस्य को आवश्यकता पड़ने पर रुपया उधार देना।

२. आवश्यकीय अनिर्मित पदार्थों की पूर्ति करना।

३. वस्तु की डिजाइन, आकार आदि के विषय में सद्परामर्श देना।

४. उत्पादन की प्रक्रियाओं का समय-समय पर निरीक्षण करना।

५. उत्पादित वस्तुओं के विक्रय की व्यवस्था करना।

६. सदस्य कारीगरों को उत्पादन के लिये आवश्यकीय उपकरण उपलब्ध करना।

इन समितियों की आवश्यक कार्यवाहक पूंजी निम्न स्रोतों से प्राप्त होती है:—

(१) प्रदत्त अंश पूंजी

(२) निक्षेप (deposits)

(३) उपार्जित लाभ

(४) राजकीय सहायता तथा अनुदान

(५) सार्वजनिक ऋण

(२) सामुदायिक औद्योगिक उत्पादन समितियां (Collective Production Societies):— इस प्रकार की औद्योगिक समितियां आवश्यकीय अनिर्मित पदार्थ अपने खर्च से खरीदकर सदस्यों को वस्तुएं निर्मित करने के लिये वितरित कर देती हैं। कभी-कभी उत्पादन-केन्द्र की व्यवस्था भी समिति के द्वारा ही की जाती है और श्रमिक समिति की निर्माण-शाला में ही वस्तुएं निर्मित करके उत्पादित वस्तुएं विक्रय-हेतु समिति को ही प्रदान कर देते हैं। श्रमिकों को कार्यानुसार उचित भृत्तियां प्रदान की जाती हैं। विक्रय-भार समिति स्वयं वहन करती है। इसके अतिरिक्त कारीगरों को जिन आवश्यकीय उपकरणों की आवश्यकता पड़ती है, वे भी समिति ही उपलब्ध करती है।

इस प्रकार की समितियों के लिये काफी कार्यवाहक पूंजी की जरूरत पड़ती है, जो कि सामान्य कर्मचारी स्वयं उपलब्ध नहीं कर सकते, इसलिये यह जरूरी हो जाता है कि इस प्रकार की समितियों को जनता एवं राज्य सरकार से भी पर्याप्त आर्थिक सहायता उपलब्ध होनी चाहिये। राज्य सरकार की उदार सहायता के बिना इस प्रकार की समितियां सफलतापूर्वक आयोजित नहीं की जा सकती हैं। सामान्यतया इस वर्ग की समितियों का उत्पादन-परिव्यय बहुत कम रहता है, क्योंकि श्रमिक जानते हैं कि भृत्तियों के अतिरिक्त वर्ष के अन्त में उपार्जित लाभ में से यथोचित प्रोत्साहक लाभांश (incentive dividend) मिलेगा।

(३) औद्योगिक नियन्त्रण एवं व्यवस्थापक समितियाँ (Industrial Control & Regulation Societies):- इस प्रकार की समितियां उन बड़े-बड़े उद्योगों को औद्योगिक श्रमिकों द्वारा नियंत्रित करने के लिये स्थापित की जाती हैं, जिन्हें व्यक्तिगत उद्योगपति या तो समुचित, सुव्यवस्थित ढङ्ग से संचालन नहीं कर पाते अथवा देश की तत्कालीन अर्थ-व्यवस्था, श्रमिक दल (labour party) के हाथ में आ जाने के कारण उद्योगों को सरकार व्यक्तिगत उद्योगपतियों के हाथ से लेकर जन-समाज के हित में श्रम-संघों को सौंपना चाहती है। प्रत्येक उपक्रम के श्रमिक अपनी-अपनी उपक्रम का सुव्यवस्थित रूप से संचालन एवं नियन्त्रण करने के लिये औद्योगिक नियन्त्रण एवं व्यवस्थापक समिति निर्माण कर लेते हैं। इस समिति की पूंजी, उद्योगपतियों द्वारा प्रदत्त पूंजी तथा श्रमिकों द्वारा अपनी भृत्ति एवं अधिलाभांश (bonus) आदि में से आयोजित अंश पूंजी से उपलब्ध होती है। उद्योगपतियों को उनके अंशों पर प्रत्याभूति लाभांश (guaranteed dividend) प्रदान करती है।

इस प्रकार की समितियां आयोजित करने के लिये श्रमिकों को काफी शिक्षित होना चाहिये और उनके सुसंगठित श्रम संघ हों, जो कि राजनैतिक क्षेत्र में उनके हितों का संरक्षण कर सकें। इसके साथ-साथ देश की तत्कालीन शासन-व्यवस्था भी श्रम दल के अथवा श्रमिकों के प्रति उदार दल के हाथ में होनी चाहिए, जो कि बड़े-बड़े उद्योगों को व्यक्तिगत पूंजीपतियों के चंगुल से छुड़ाकर वास्तविक जनतन्त्र के स्थापित करने को कटिबद्ध हो।

किसी-किसी देश में कुछ ऐसे भी उदार दिलवाले पूंजीपति पाये जाते हैं, जो कि अपनी इच्छा से श्रमिकों को सक्रिय योग देने के उद्देश्य से उन्हें उपक्रम के नियंत्रण एवं प्रबन्ध में सहभागी बनाने के इच्छुक रहते हैं और श्रमिकों को अपनी भृत्तियों और लाभांश में से थोड़ा-थोड़ा बचाकर उपक्रम के अंश खरीदकर अंशधारी बनाते चले जाते हैं। इस प्रकार कुछ काल उपरान्त उपक्रम की व्यवस्था स्वयं उनके हाथ में आ जाती है। ऐसे उदार उद्योगपतियों की संख्या संसार में बहुत कम है। कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि विशेष मजबूरी की परिस्थितियों में वे इस प्रकार की समिति द्वारा उपक्रम के नियन्त्रण करने की व्यवस्था स्वीकार कर लेते हैं।

औद्योगिक सहकारी समितियां (विदेशों में):— फ्रांस और इटली में औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में गत तीस वर्षों में काफी प्रगति हुई है। इन दोनों देशों में महानुमाप-उत्पादन के अतिरिक्त लघु-माप-उत्पादन भी औद्योगिक सहकारी समितियों के आधार पर सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है। चीन और रूस में भी

औद्योगिक उत्पादन के लिये काफी मात्रा में सहकारी समितियाँ योग दे रही हैं। इन देशों के आर्थिक पुनरुत्थान में औद्योगिक सहकारी समितियों का बहुत हाथ रहा है। अमेरिका जैसे पूंजीपति देश में भी जूता, चमड़े आदि उद्योग, औद्योगिक सहकारी समितियां संचालन करती हैं अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार औद्योगिक सहकारी समितियों की विश्व में निम्न प्रदर्शित स्थिति थी :—

तालिका

देश	समितियों की संख्या	सदस्यों की संख्या
रूस	१४,५५५	१८,८२,३५०
यूरोप (रूस के अतिरिक्त)	४,४०८	२,३४,१००
अमेरिका	१,१७८	१,०१,१४५
एशिया (चीन को छोड़कर)	२०४	५,१३२

उपर्युक्त आंकड़े लगभग दस वर्ष पुराने हैं। वर्तमान स्थिति उससे कुछ अधिक सन्तोषजनक है। इन आंकड़ों से भी यह विदित हो जाता है कि सहकारी उत्पादन समितियों ने विकसित देशों में आज भी उत्पादन के क्षेत्र में अपना स्थान बना रखा है। उनकी प्रगति में सबसे अधिक बाधक बहुत बड़े-बड़े उद्योग और उनके संचालक उद्योगपति सिद्ध हुए हैं।

औद्योगिक सहकारी समितियों से लाभ :—जिन देशों में पूंजी-संग्रहण कम है और बड़े-बड़े उत्पादक सयंत्र बहुधा विदेशों से ही मंगाने पड़ते हैं, किन्तु श्रम-वर्ग की संख्या देश

में जनसंख्या की अधिकता के कारण पर्याप्त है, वहां बहुधा औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में लघु-प्रमाप-उत्पादन (small scale production) अपनाना पड़ता है। लघु-प्रमाप उत्पादन के लिये औद्योगिक उत्पादन-समितियां सर्वोत्तम संगठन हैं। इन समितियों में श्रम का सदुपयोग करते हैं और पूंजी एवं यन्त्रों का, जितना कम से कम मात्रा में उपयोग किया जा सकता है, करने की कोशिश की जाती है। श्रमिक का मान, पूंजी की अपेक्षा अधिक किया जाता है। इसके विपरीत वृहत् मान-उत्पादन के अन्तर्गत श्रमिक पूंजी का दास बन जाता है और उसका स्वतंत्र विकास अवरुद्ध हो जाता है। औद्योगिक सहकारी समितियों में श्रमिक को अपने मानसिक विकास का पर्याप्त अवसर मिलता है, क्योंकि उत्पादन के कार्यक्रम में उसका काफी हाथ रहता है। इसके अतिरिक्त वस्तु के डिजाइन और आकार-प्रकार को निश्चित् करने में भी व्यक्तिगत उत्पादक को काफी स्वतंत्रता रहती है। सहकारी समितियों में उत्पादन के लिये जो कुछ पूंजी की आवश्यकता पड़ती है, वह भी श्रमिक स्वयं जुटाते हैं। इस प्रकार समाज में महानुमाप-उत्पादन के द्वारा पूंजीपति और श्रमिक का जो वर्ग-भेद पैदा होता है, सहकारी उत्पादन-समितियों द्वारा इस प्रकार का कोई वर्ग-भेद पैदा होने का लेश-मात्र भी अवसर नहीं आता, क्योंकि स्वयं श्रमिक ही अपनी सहकारी समिति के पूंजी-आयोजन में रहते हैं।

हाथकरघा उद्योग की विभिन्न कठिनाइयां

भारतवर्ष में २६ लाख करघे हैं, जिनमें से लगभग ६ मद्रास राज्य में स्थापित हैं। देश में उपयोग में आनेवाले वस्त्र की कुल मात्रा का २६ प्रतिशत इस उद्योग से प्राप्त होता है और १.५ करोड़ व्यक्तियों की जीविका का आश्रय इसी उद्योग पर निर्भर

है। युद्धोत्तर काल में इस उद्योग के समक्ष मिलों द्वारा निर्मित वस्त्र की पुनः बहुतायत हो जाने के कारण दिनोंदिन अनेकों कठिनाइयां उपस्थित होती चली जा रही हैं। इनमें से कुछ मुख्य-मुख्य कठिनाइयों का उल्लेख यहां किया जा रहा है।

कुछ मुख्य कठिनाइयां निम्नलिखित हैं :—

(१) सूत की अपर्याप्तता, (२) मिल वस्त्र से प्रतिस्पर्धा, (३) विदेशी बाजारों का हाथ से निकल जाना, (४) अनुसंधान एवं प्रौद्योगिक योग्यता का अभाव, तथा (५) संगठन की कमी।

१. *सूत की अपर्याप्तता* :- बहुधा यह देखने में आया है कि मिलों की आवश्यकताएं पूर्ति करने के उपरांत पर्याप्त मात्रा में उचित काउन्ट्स का सूत, हाथकरघों के लिये नहीं मिलता। इस कारण, बुनकर माह के सभी दिनों में निरन्तर अपने करघे पर काम करने में असमर्थ रहता है। बुनाई करना ही उसका प्रमुख उद्योग है, जिसके अतिरिक्त वह अन्य कोई उद्योग जानता ही नहीं और न उसके पास कोई और अन्य जीविकोपार्जन के साधन ही हैं। कभी-कभी तो उसे माह में इतने कम दिन काम मिलता है कि उससे उसके परिवार का उदर-भरण भी पूरा नहीं हो पाता और उसे अर्ध-भूख की दशा में रहना पड़ता है।

२. *मिलों की प्रतिस्पर्धा* :—जो कुछ सूत उसे उपलब्ध हो जाता है, उससे वह जो वस्त्र बुनकर तैयार करता है, उस वस्त्र को भी वह बाजार में बेच सकेगा, इस बात का उसे विश्वास नहीं रहता, क्योंकि मिलों द्वारा निर्मित कपड़ा अधिक आकर्षक और सस्ता रहता है। इसलिये बुनकर को अपना माल विक्रय में मिलों के वस्त्रों की प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करना पड़ता है जिसके लिये वह बहुधा अपने को असमर्थ पाता है।

स्टाक करके रख लेते हैं और समय पड़ने पर उस माल की उचित कीमत उठा लेते हैं, ऐसे बहुत कम बुनकर मिलेंगे। शेष बुनकरों के माल को स्टाक करने के लिये सुसंगठित, आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ अभिकर्त्तृत्व नहीं है, इसलिये उन्हें जो कुछ दाम उस समय मिल पाते हैं, उतने ही में अपने परिवार के उदर-भरण के लिए तुरन्त वस्त्र बेच देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उसे सूत भी मिलों की अपेक्षा लगभग २० प्रतिशत अधिक दामों पर प्राप्त होता है, क्योंकि उसके वितरण में भी कई प्रान्तीय व जिला (डिस्ट्रिक्ट) मध्यग (middle-men) आ जाते हैं, जिन्हें अपनी सेवाओं के लिये लाभ अवश्य ही चाहिये।

३. *विदेशी बाजारों का खो बैठना* :— पाकिस्तान, रंगून और सिंगापुर आदि जगहों पर भारतवर्ष के विभिन्न भागों में उत्पादित हाथ-करघों का वस्त्र युद्धकालीन एवं युद्धोपरांत काल में, जब तक वस्त्राभाव बना हुआ था, काफी मात्रा में भेजा जाया करता था, किन्तु ब्रिटेन और जापान की मिलों द्वारा उत्पादित माल ने उसे बाजार से निकाल दिया है।

इस प्रकार हाथकरघा से उत्पादित कपड़े का विदेशी व्यापार हमारे पास नहीं रहा है, जिस कारण अनेकों करघे बन्द पड़े हैं।

४. *अनुसंधान व प्रौद्योगिक सहायता का अभाव*:— इस उद्योग का कार्य काफी काल से रूढ़िगत तरीकों से चला आ रहा है और कोई अनुसंधान एवं प्रौद्योगिक सहायता इस दिशा में, न राज्य सरकारों की ओर से और न किसी अन्य सार्वजनिक सहायतादात्री समिति आदि की ओर से ही मिली है। आज जबकि जापान आदि देशों में छोटी-छोटी बहुत उत्तम, हल्की,

कम कीमतवाली मशीनें हाथकरघे को प्रतिस्थापित कर चुकी हैं, अपने देश में वही पुराने ढंग का करघा चल रहा है।

इसके अतिरिक्त रंगों के चुनने, डिजाइनों को नयी और अधिक आकर्षक बनाने आदि सम्बन्धी नवीनतम विधियों का, अशिक्षित बुनकरों के बीच, विशेष प्रचार नहीं है। शायद ही कुछ स्थानों में इस दिशा में कुछ कार्य किया गया है, जहां पर मुफ्त शिक्षा प्रदान करके बुनकरों को राज्य सरकारों द्वारा कुछ सहायता प्रदान की गई है। अधिकतर काम पुराने रूढ़िगत तरीकों के अनुसार ही चला जा रहा है।

५. *संगठन की आवश्यकता* :— इस उद्योग का संगठन किसी भी वैज्ञानिक विधि (scientific method) से नहीं हुआ है। कहीं-कहीं केवल बुनकरों की कुछ प्रारम्भिक समितियां हैं; शेष केन्द्रीय संस्थाओं का पूर्णतया अभाव-सा है। अब कुछ प्रान्तों में केन्द्रीय-संस्थाएँ स्थापित करने के प्रयास किये गये हैं। और कुछ स्थानों में राजकीय आर्थिक सहायता भी देना शुरू किया गया है।

केन्द्रीय सरकार द्वारा हाथकरघा उद्योग के पुनर्संस्थापन के प्रयास

हाथ-करघा कपड़े के उद्योग के इतिहास में सन् १९५२ और १९५३ बड़े ही महत्वशील वर्ष थीं। इन वर्षों में इस उद्योग के ऊपर जो कठिनाइयां उपस्थित हुई थीं, उन्होंने जनता एवं केन्द्रीय राज्य सरकारों, सबकी दृष्टि इस ओर आकर्षित कर ली थी।

केन्द्रीय सरकार ने वस्तुस्थिति को देखकर तत्काल इस उद्योग के पुनर्संस्थापन के लिये निम्नलिखित कदम उठाये:—

१. अखिल भारती हाथकरघा बोर्ड (जिसको पर्याप्त सहायता दी गई है,) स्थापित किया गया है।

२. कल-कारखानों में बने सूती कपड़े पर अतिरिक्त चुंगी लगाई गई, जिससे करघा-उद्योग को आर्थिक सहायता प्रदान की जा रही है। सन् १९५३-५४ में इस मद से ६ करोड़ रुपये की आय सम्भावित की गई थी।

३. एक टेक्सटाइल जांच समिति निर्मित की गई है, जो कि मिल वस्त्र, शक्ति द्वारा संचालित करघा वस्त्र व हाथ-करघा वस्त्र के क्षेत्र के विषय में जांच करके देश के सर्वोच्च हित में जो मार्ग अनुकरणीय है, उसकी सिफारिश करेगी।

४. हाथकरघा-उद्योग के लिये कुछ ऐसी अन्तरिम योजनाएं भी स्वीकार की गई हैं, जिनसे इस उद्योग को तुरन्त लाभ मिला है—जैसे प्रत्येक मिल के लिये यह आदेश निकाला गया है कि वह मार्च ५२ को समाप्त होनेवाले गत १२ माह में जो मात्रा धोतियों के उत्पादन की थी, उसका केवल ६० प्रतिशत ही उत्पादन भविष्य में करे।

इन उपर्युक्त आदेशों से स्पष्ट होता है कि केन्द्रीय सरकार हाथकरघा उद्योग को स्थायित्व प्रदान करने के लिये प्रयत्नशील है और इस उद्योग के समक्ष जो कठिनाइयां आ रही हैं, उनके समयानुकूल निवारण के लिये सदैव तत्पर है।

आदरणीय प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने अपनी दक्षिणी भारतवर्ष की यात्रा के समय गत वर्ष इस उद्योग के प्रति केन्द्रीय सरकार की आत्मीयता इन शब्दों में व्यक्त की थी—

है, क्योंकि इस उद्योग के साथ हमारे असंख्य देशवासियों का सम्बन्ध है... इस उद्योग को प्राथमिकता प्रदान करने और सर्वोत्तम स्थान देने की आवश्यकता आज अवश्य अनुभव की जा रही है... चाहे पहले कभी न की गई हो। आप सबको, मैं आश्वासन दिलाता हूँ कि हम सब, बुनकरों और इस विशाल उद्योग की आवश्यकताओं पर ध्यान देंगे।"

: १५ :

सहकारिता समिति निर्माण करना और सदस्यता ग्रहण करना

(How to Organise and Join Co-operative Society)

यदि आपके ग्राम में अथवा नगर में सहकारी समिति, पहले से कार्य कर रही है, तो नई समिति प्रारम्भ करने की आवश्यकता नहीं है। आप उसी समिति की सदस्यता ग्रहण कर सकते हैं। यदि उस समिति के उद्देश्य, उन उद्देश्यों से भिन्न हैं, जिनके लिये आप सहकारिता क्षेत्र में पदार्पण करना चाहते हैं, तो फिर अपने जैसे विचारवाले नौ व्यक्ति और खोज लीजिये। तदुपरांत एक नई समिति के पंजीयन के लिये आवेदन कीजिये। दोनों समितियों के उद्देश्य भिन्न होने चाहिये, क्योंकि समान उद्देश्यवाली, एक ही क्षेत्र में दो समितियां स्थापित करना उचित नहीं है और सहकारिता विभाग के पदाधिकारी भी इस प्रकार के दुहरेपन को पसन्द न करेंगे। यदि वर्तमान समिति किसी एक विशेष उद्देश्य के लिये कार्य कर रही है और उसका कार्य सुचारु रूप से नहीं चल रहा है, तो अच्छा तरीका यह होगा कि आप उसके सदस्य बनकर, उसे सुधारने की कोशिश करें। समान उद्देश्यवाली एक अन्य समिति निर्माण करने से सहकारिता समितियों की केवल संख्या मात्र बढ़ाना नहीं है,

वास्तविक उद्देश्य तो जनता की सेवा करना है। प्रत्येक समिति की सफलता, उसके सदस्यों के ऊपर निर्भर रहती है, जिनमें चरित्र बल, योग्यता, जोश और सार्वजनिक कार्य करने की इच्छा आदि- गुण होने चाहिये। सदस्यता ग्रहण करके, केवल अपने हित और स्वार्थों की सिद्धि नहीं करनी चाहिये, बल्कि अपने साथियों का हित होना चाहिये।

वर्तमान समिति की सदस्यता प्राप्त करने के लिये, उस समिति के कार्यवाहक (मन्त्री) को आवेदन-पत्र भेजना चाहिये। यदि आप मन्त्री से स्वयं मिल लें, तो अधिक उत्तम होगा। यदि समिति की सदस्यता ग्रहण करने के लिये कोई निर्धारित आवेदन-पत्र होगा, तो वह आपसे उसकी पूर्ति करा लेंगे और उसके उपरांत आपका आवेदन-पत्र समिति की "पंचायत" (executive) के समक्ष रख दिया जायेगा, जहाँ पर आपको सदस्यता देने का निश्चय किया जायेगा। सदस्यता-प्राप्ति की स्वीकृति प्राप्त होने पर, आपको सदस्यता-शुल्क व प्रवेश-शुल्क आदि प्रदान करने पड़ेंगे। उत्तर प्रदेश में अंश पूंजी की राशि ५ रुपये से २० रुपये तक पाई जाती है। समिति के उप नियमों के अन्तर्गत, अंश पूंजी की राशि एक बार में प्रदान करने की या प्रभागों में प्रदान करने की, जैसी भी विधि स्वीकृत की गई है, उसीके अनुसार आपको भी अंश पूंजी की राशि एक बार में या प्रभागों में प्रदान करनी पड़ेगी।

जिस समिति की आप सदस्यता ग्रहण करने जा रहे हैं, पहले उसके उपनियमों (bye-laws) का अवश्य अध्ययन कर लीजिये। इनसे आपको उस समिति के विधान, उसके उद्देश्य, सदस्यों के कर्त्तव्य व दायित्व तथा कार्य-प्रणाली के विषय में पर्याप्त जानकारी हो जायेगी। उप नियमों की प्रतिलिपि कार्यवाहक

(मन्त्री) के पास प्राप्त हो सकेगी। प्रत्येक व्यक्ति, जो कि १८ वर्ष की आयु का है और किसी अन्य शारीरिक या मानसिक बीमारी के कारण अयोग्य नहीं है, सदस्यता ग्रहण करने के लिये योग्य समझा जायेगा। सहकारी समितियों की सदस्यता, सभी १८ वर्ष से बड़े व्यक्तियों के लिये खुली हुई है, किन्तु इस आंदोलन में नैतिकता पर विशेष रूप से ध्यान दिया जा रहा है, इसलिये किसी व्यक्ति को सदस्यता मिलना उसका अधिकार नहीं माना जा सकता।

समिति की कार्य-व्यवस्था
(Management of a Society)

प्रत्येक समिति में एक कार्यकारिणी (executive) होती है, जिसे कुछ प्रान्तों में पंचायत कहते हैं। यह कार्यकारिणी, सदस्यों की सामान्य सभा में से चुने हुए कुछ सदस्यों से निर्मित होती है, जिनकी संख्या ३, ५ या ७ आवश्यकतानुसार भिन्न भिन्न समिति में भिन्न-भिन्न रहती है। नगरों में जो समितियां औद्योगिक क्षेत्र में कार्य करती हैं, उनकी कार्यकारिणी को "संचालकगण" (board of directors) भी कह लिया जाता है।

कार्य-व्यवस्था उपर्युक्त पंचायत (executive) या संचालकगण (board of directors) के द्वारा की जाती है। नीति, सामान्य सभा प्रस्तावों के रूप में स्वीकृत कर देती है। सामान्य सभा द्वारा निर्धारित नीति के अनुसार कार्य करने का दायित्व कार्यकारिणी (पंचायत) पर रहता है। कार्यवाहक (secretary) कार्यकारिणी की ओर से दैनिक कार्य की देखभाल करता है।

कार्यकारिणी का कार्य-काल, जैसा उपनियमों में स्वीकृत कर लिया गया है, उसके अनुसार एक या दो-तीन साल हो सकता है। कार्यकारिणी के सदस्य सामान्य सभा के सदस्यों में

चुने जाते हैं। कभी-कभी प्रथम, कार्यकारिणी समिति प्रारम्भ ने पर "सहकारी समितियों" के पंजीयक (registrar) द्वारा भी ुक्त कर दी जाती हैं, क्योंकि कभी-कभी प्रारम्भ में प्रत्येक दस्य एक-दूसरे से परिचित नहीं होते।

प्रत्येक सदस्य को, चाहे उसने एक अंश खरीदा हो या धिक, समान मतदान का अधिकार होता है। प्रत्येक व्यक्ति ा एक ही "मत" (vote) प्राप्त होता है। मत, अंशों की संख्यानुसार नहीं रहते। मत-समानता, सहकारी संस्थाओं की अपनी विशेषता है, जो कि पूंजीवादी संस्थाओं में नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त, इस सिद्धान्त से सर्वोत्तम व्यक्ति चुनने में हुत सहायता मिलती है। प्रतिनिधियों की ईमानदारी, स्वार्थ-हीन सेवाओं और कार्यक्षमता पर ही समिति की सफलता र्भर रहती है।

कमेटी के सदस्यों के चुन लेने के उपरांत, समिति के पदाधिकारियों का चुनाव किया जाता है। तीन प्रमुख पदाधिकारी होते हैं— प्रधान, कार्यवाहक (मन्त्री) और कोषाध्यक्ष। प्रधान को सरपंच कहते हैं, वह समिति के सब कार्यों के ऊपर सामान्यतया नियंत्रण रखता है। कार्यवाहक (मन्त्री) समिति का प्रमुख शासन-पदाधिकारी होता है और प्रधान की देखरेख में रहते हुए भी, समिति के सब कार्यों पर ध्यान देता है। कोषाध्यक्ष, समिति की सम्पूर्ण सम्पत्ति, धनराशि आदि के रखने का अधिकारी होता है। इन पदाधिकारियों को वेतन नहीं मिलता।

कुछ बड़ी समितियों में, जहां कार्य की अधिकता रहती है, वैतनिक कार्यवाहक (मन्त्री) रखा जाता है। इसके अतिरिक्त, कार्यालय में अन्य वैतनिक लिपिक (clerk) आदि भी नियुक्त किये जाते हैं। कार्यालय के कर्मचारियों को कार्यकारिणी की

सदस्यता प्राप्त नहीं होती। दैनिक कार्यक्रम की व्यवस्था इन व्यक्तियों को करनी पड़ती है। किन्तु, कुछ प्रमुख कार्यों की देखभाल, पंचायत (अथवा कार्यकारिणी) को स्वयं करनी पड़ती है। उदाहरणार्थ, नये सदस्यों को प्रविष्ट करना, ऋण-आवेदन पत्रों को स्वीकार करना आदि। कार्यकारिणी की सभाएँ इन कार्यों के लिये समय-समय पर होती रहती हैं।

सदस्यों के अधिकार एवं दायित्व

(Rights and Responsibilities of Members)

समिति की व्यवस्था का दायित्व, सदस्यों की साधारण सभा पर है, प्रत्येक सदस्य इस सभा का एक अंग है और एक मत (vote) का उसे अधिकार है। इतनी बड़ी साधारण सभा, क्योंकि सुचारु रूप से दैनिक व्यवस्था करने में असमर्थ रहती है, इसलिये पंचायत (कार्यकारिणी), एक छोटी सभा साधारण सभा के सदस्यों में से चुने हुए व्यक्तियों की नियुक्त कर दी जाती है, जो कि साधारण सभा के द्वारा प्रदत्त आदेशों के अनुसार व्यवस्था करती है। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य के ऊपर सुव्यवस्था का पूर्ण भार रहता है।

सहकारिता समिति के प्रत्येक सदस्य को अपना कर्तव्य समझना चाहिये और समिति की प्रगति में, जिसमें उन सब सदस्यों की उन्नति भी सन्निहित है, पूरा-पूरा योग देना चाहिये; क्योंकि समिति उसकी अपनी है और उसके हितों को सर्वोपरि समझना चाहिये। सदस्य को चाहिये कि कोई कार्य ऐसा न करे, जिससे समिति की प्रतिष्ठा को हानि पहुँच सकती हो। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को दूसरे सदस्य के कार्यों पर भी दृष्टि रखनी चाहिये, जिससे किसी भी व्यक्ति से कोई ऐसा

कार्य न हो जाये, जिसके कारण समिति के प्रत्यय पर आघात पहुंचे। सदस्यों को सदैव साधारण सभा में उपस्थित रहने का यथाशक्ति प्रयास करना चाहिये, और जो कुछ योग्यता उनमें है, उस के अनुसार समिति की प्रगति में योग देना चाहिये।

यदि किसी व्यक्ति का व्यवहार अनुचित रहा है अथवा उसके व्यवहार से समिति के मान प्रतिष्ठा को हानि पहुंची है, तो प्रत्येक सदस्य का यह कर्तव्य हो जाता है कि उस सदस्य को समिति की सदस्यता से अलग करने के लिये बिना किसी व्यक्तिगत पक्षपात के निर्णय दे।

कार्यकारिणी के सदस्यों का चुनाव बहुत ही न्यायसंगत होना चाहिये, क्योंकि इन व्यक्तियों की योग्यता, कार्यक्षमता, नैतिकता और ईमानदारी पर समिति की प्रगति बहुत हद तक आश्रित रहती है। ऐसे किसी सदस्य को कार्यकारिणी का कदापि सदस्य न चुना जाय, जिसने कभी समिति के प्रति दोष (default) किया हो। उसे समिति की ओर से किसी अन्य समिति में प्रतिनिधित्व करने के लिये भी नहीं चुनना चाहिये। ऐसे व्यक्तियों को भी कार्यकारिणी का सदस्य नहीं बनाया जा सकता, जो कि नष्टनिधि दिवालिया होने के लिये आवेदन कर चुका हो, अथवा जिसको दायित्व मुक्ति-पत्र (discharge certificate) प्राप्त न हो चुका हो। इसके अतिरिक्त, भारतीय दण्ड विधान के अन्तर्गत जिन व्यक्तियों को चरित्र सम्बन्धी कुकृत्यों के लिये दण्ड दिया जा चुका हो, उन्हें भी कार्यकारिणी के सदस्य नहीं बनाना चाहिये। राजनैतिक कारणों से सजा प्राप्त व्यक्तियों को कार्यकारिणी का सदस्य नियुक्त करने में कोई आपत्ति नहीं है। इसके अतिरिक्त बहरा, मूक, अपढ़, अन्य शारीरिक ऐसी असमर्थता हो, जिसके कारण समिति के कार्य को हानि पहुंचने

की सम्भावना हो, उस भी कार्यकारिणी का सदस्य नियुक्त नहीं किया जाना चाहिये। जो व्यक्ति समिति की वैतनिक सेवा किसी पदाधिकारीपद पर कर रहा है, उसे तथा जो किसी ऐसे कर्मचारी का निकट सम्बन्धी है, उस व्यक्ति को भी कार्यकारिणी का सदस्य नहीं चुना जाता। इसके अतिरिक्त इस बात का भी ध्यान रखना पड़ता है कि यदि कोई सदस्य, अपने कार्यकारिणी की सदस्यता के कार्यकाल में, उपर्युक्त किसी भी बीमारी अथवा असमर्थता का शिकार हो जाता है, तो उसे कार्यकारिणी की सदस्यता से उसी दिन से अलग समझा जायेगा, जिस दिन से वह बीमारी या असमर्थता का शिकार हुआ है।

सामान्य सभा के अधिकार

सामान्य सभा को, कार्य-व्यवस्था के विषय में समय-समय पर अवगत होते रहना चाहिये। इसके अतिरिक्त कार्यकारिणी के चुनाव, कार्यकारिणी का हटाना, पंजीयक को वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करना, अंकेक्षण प्रमाण-पत्र प्राप्त करना, वर्तमान उपनियमों में संशोधन एवं परिवर्तन करना, सदस्यों में से किसीको उसके दोष के कारण निकालना, कार्यकारिणी के सदस्यों और उनके निकट सम्बन्धियों को ऋण आदि स्वीकृत करना तथा स्थानीय केन्द्रीय अधिकोष एवं को-आपरेटिव्ह इन्स्टीट्यूट आदि के लिये प्रतिनिधि चुनना—ऐसे अनेकों कार्य हैं, जो कि साधारण सभा को स्वयं करने चाहिये।

सदस्यों को समिति की गतिविधियों के विषय में काफी परिचय मिलता रहे; इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि समिति की सामान्य सभा की बैठक (meeting) वर्ष में कई बार समय-समय पर बुलाते रहना चाहिये तथा इन बैठकों में, समिति के

सुचारु रूप से संचालन के लिए जो कार्य आवश्यक हैं, वे सम्पन्न किये जाना चाहिये । यदि समितियां विधिवत् कार्य करें, तो ग्रामीणों को अल्पकाल में ही, इस बात का बोध होने लगता कि वे एक शिथिल व छिन्न-भिन्न जन-समुदाय के सदस्य होकर एक सुगठित संघ के एक अंग हैं ।

कभी-कभी महासभाओं (conferences) का भी आयोजन करना चाहिये, जिनमें समिति के सदस्यों के अतिरिक्त अन्य जनता भी उपस्थित रहे । ऐसे अवसरों पर सहकारिता के उद्देश्यों का स्पष्टीकरण किया जाये और सहकारिता के द्वारा समाज की आर्थिक व सामाजिक दशा सुधारने में यथाशक्ति कोशिश की जाय ।

समिति के लाभों का विभाजन

(Distribution of Profits in a Co-operative Society) :—

समिति के लाभ का विभाजन संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों के समान नहीं किया जाता । संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डलों में पूंजीपति का बोलबाला रहता है, जिन्हें सदैव लाभोपार्जन की लिप्सा रहती है । मानवीय हित व सेवाभाव के उच्च आदर्श, उनकी दृष्टि में लाभोपार्जन और उसे व्यक्तिगत रूप से हस्तगत कर लेने की तुलना में हीन रहते हैं । सहकारिता समिति में स्थिति बिल्कुल विपरीत है । यहां मानवीय कल्याण एवं सेवाभाव को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जाता है ।

समिति की अंश पूंजी प्रदान करनेवाले अंशधारियों को साधारण ब्याज की दर से, लाभ में से कुछ भाग, ब्याज के [illegible] दिया जाता है । उत्तर प्रदेश में, इस प्रकार के ब

के शोधन के विषय में, यह प्रतिबन्ध लगा दिया गया है कि वह अंश के मूल्य के $\frac{1}{10}$ (या १० प्रतिशत) से अधिक नहीं होना चाहिये।

लाभों में से लगभग $\frac{1}{5}$ या $\frac{1}{4}$ (भिन्न-भिन्न प्रान्तों में २० प्रतिशत से २५ प्रतिशत तक सीमा निर्धारित है) भाग संचिति की ओर लाभांश वितरण करने से पूर्व स्थानान्तरित करना पड़ता है। शेष राशि को समिति के उपनियमों में निर्धारित आदेशानुसार विभाजित करना पड़ता है। क्रय-विक्रय समितियों में बहुधा क्रेता सदस्यों को, उनके द्वारा वर्ष में क्रीत माल के मूल्य के आधार पर क्रय बोनस प्रदान किया जाता है। इस प्रकार के लाभांश-वितरण में, वितरण का आधार, समिति का उपयोग कौन सदस्य कितनी मात्रा में करता है और उसके द्वारा इस प्रकार कितना योग लाभोपार्जन की ओर दिया गया है, रहता है।